श्री जैन श्वेतांबर तीर्थ

अंतरिक्षजी

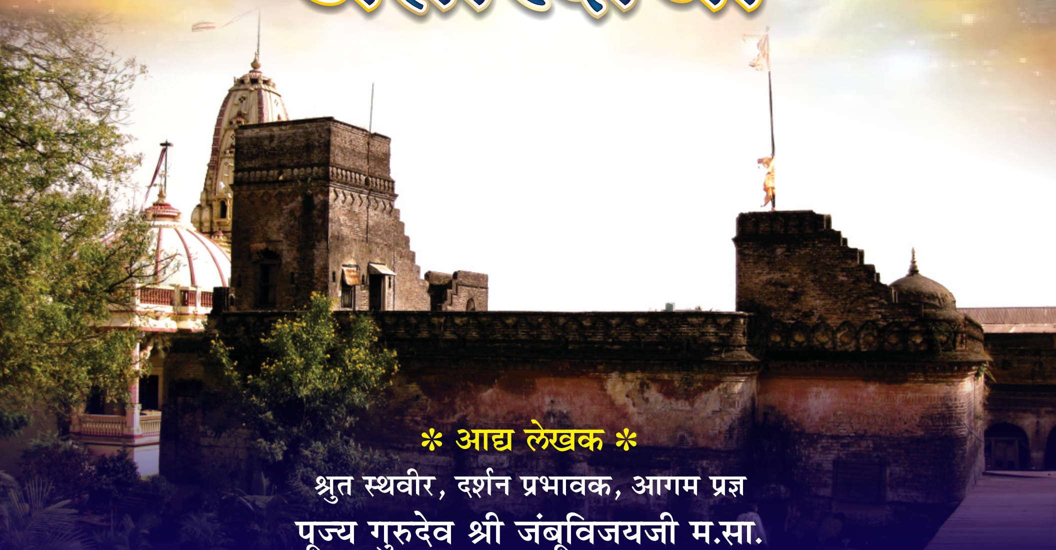

* आद्य लेखक *

श्रुत स्थवीर, दर्शन प्रभावक, आगम प्रज्ञ

पूज्य गुरुदेव श्री जंबूविजयजी म.सा.

* संपादक *

भूषण शाह

तस्मै श्री गुरवे नमः

श्रुत स्थवीर, दर्शन प्रभावक, आगम प्रज्ञ

पूज्य गुरुदेव श्री जंबूविजयजी म.सा.

तस्मै श्री गुरवे नमः

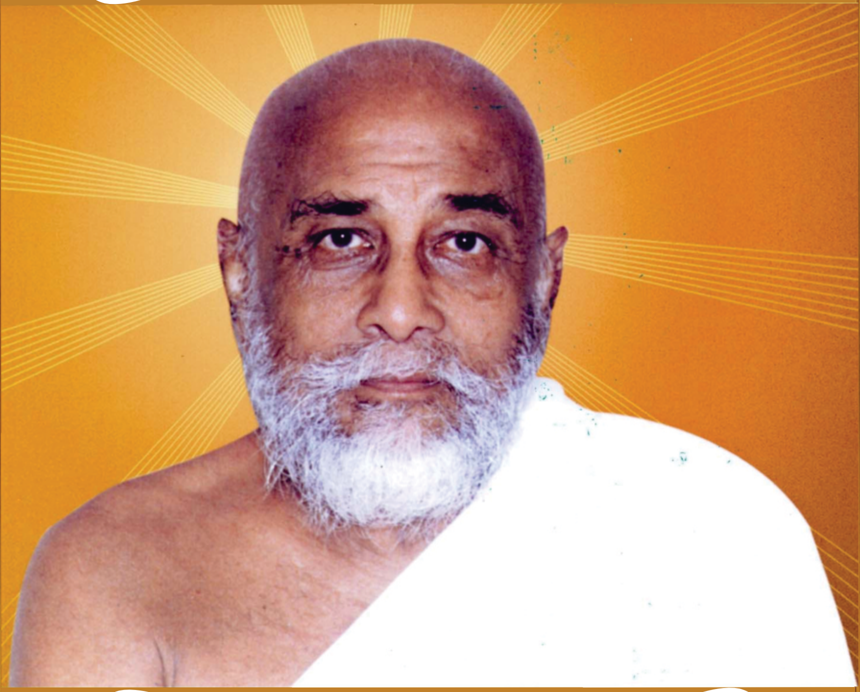

शाश्वत गिरनारजी एवं श्री अंतरिक्षजी महातीर्थ के लिए जागृति लानेवाले
शासनसेवा, समर्पितता एवं सामर्थ्य गुण के स्वामी
पंन्यास प्रवर श्री चंद्रशेखर विजयजी महाराजा

श्री जैन श्वेतांबर तीर्थ

अंतरिक्षजी

✻ आद्य लेखक ✻

श्रुत स्थवीर, दर्शन प्रभावक, आगम प्रज्ञ

पूज्य गुरुदेव श्री जंबूविजयजी म.सा.

✻ संपादक ✻

भूषण शाह

✻ प्रकाशक ✻

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ श्वेतांबर संस्थान, शिरपुर

एवं

मिशन जैनत्व जागरण, अहमदाबाद

© संपादक एवं प्रकाशक

वीर सं. २५४७ विक्रम सं. २०७६ ई.स. २०२०

मूल्य : ५० आवृत्ति : तृतीय प्रत : २०००

* प्राप्तिस्थान *

अहमदाबाद
मिशन जैनत्व जागरण
'जंबूवृक्ष' C-503/504, श्री हरी अर्जुन सोसायटी, चाणक्यपुरी ओवर ब्रिज के नीचे, प्रभात चौक के पास, घाटलोडीया, अहमदाबाद

जयपुर
आकाश जैन
B/133, नित्यानंद नगर, क्वीन्स रोड, जयपुर (राज.)

उदयपुर
अरुण कुमार बडाला
B/427, एमराल्ड टावर, हाथीपोल, उदयपुर (राज.)

करौली
डॉ. मनोज जैन
B-3, HP पेट्रोलपंप के पीछे, नयी मंडी, हींडौन सीटी, करौली (राज.)

भीलवाडा
सुनील जैन बालड
'सुपार्श्व' जैन मंदिर के पास जमना विहार, भीलवाडा (राज.)

आग्रा
सचिन जैन
B/19, अलका कुंज, ख्वावेरी फेझ-२, कमलानगर, आग्रा (उ.प्र.)

लुधियाणा
अभिषेक जैन
शान्ति निटवेर्स, पुराना बाजार, लुधियाणा (पंजाब)

Mumbai
Abhishek Zaveri
A/1102 Aaditya Avenue Topivala Lane, Prarthna Samaj, Mumbai

नाशिक
आनंद नागशेठिया
641, महाशोबा लेन, रविवार पेठ, नाशिक (महा.)

शिरपुर
श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ महाराज संस्थान
शिरपुर, तह.-वासीम, जि.-अकोला

Vijaywada
Akshay Jain
Door No. 11-16-1/1 Sing Rajuvali Street Vijaywada (A.P.)

K.G.F.
Ashish Taleda
Prince Surajmull Circle, Robert Sonpeth, K.G.F. (K.T.)

Bangluru
Arvindkumar Ostwal Jain
Prem Mention No. 14, 21st Cross B.V.K. Aainagar Road Cross, Kilari Road, Bangluru (K.T.)

* मुद्रक *
वीतराग ग्राफिक्स
पं. श्री राजेशभाइ तत्ते,डअहमदाबाद (M) 8980007872

समर्पणम्

जिस महामना महापुरुष के अंतर के आशीर्वाद से
अंतरिक्षजी तीर्थ अभ्युदय का कार्य सुसंभवित हुआ
ऐसे सिद्धांत दिवाकर

सुविशाल गच्छाधिपति जयघोषसूरीश्वरजी महाराजा

जिनके अंतर के आशीर्वाद से अंतरिक्षजी महातीर्थ में सदाबहार
प्रसन्नतामय वातावरण का अवतरण हुआ ऐसे सरस स्वभावी,
बालक जैसे भोले भगवान प. पू. आ. भुवनभानुसूरि समुदाय के

वर्तमान गच्छाधिपति प्रशांतमूर्ति विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

शाश्वत गिरनारजी एवं श्री अंतरिक्षजी महातीर्थ के लिए जागृति लानेवाले,
शासनसेवा, समर्पितता एवं सामर्थ्य गुण के स्वामी

पंन्यास प्रवर श्री चंद्रशेखर विजयजी महाराजा को

सादर समर्पित

भूषण शाह

पुन: प्रकाशन की वेला में...

श्री अंतरिक्षजी महातीर्थ तथा 'श्वेतांबर संघ' ये दो शब्द सैकडो वर्षो से जुडे हुए है। उसमें भी श्वेतांबर संघ के पू.आ. जिनप्रभसूरि म., पू.मु.शील वि.म., पू.आ.देवसूरि म., पू.आ.सागरानंदसूरि म., पू.आ.रामचंद्रसूरि म., पू.आ. भुवनतिलकसूरि म. पू.मु.जंबू वि.म., पू.पं.चंद्रशेखर वि.म., पू.आ.हेमरत्नसूरि म., पू.पं.विमलहंस-परमहंस वि.म. का नाम श्री अंतरिक्ष तीर्थ के ईतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायेगा। श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ का ईतिहास पू.गुरुदेव जंबूविजयजी म.सा. ने बहुत मेहनत के साथ लिखा ही है, फिर भी इस पुस्तक को लिखे 70 वर्ष होने आये है। पिछले 70 वर्षों में बहुत कुछ घटा है जिसका ईतिहास में समावेश अति आवश्यक है। चलिए यात्रा करते है।

विचक्षण दीर्घदर्शी श्रावकों द्वारा श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ जिनालय का निर्माण

श्री अंतरिक्षजी तीर्थ में ई.स.1905 से दाखिल हुए तीन-तीन घण्टे की पूजा की बारी के समयपत्रक के कारण श्वेतांबर यात्रिकों को कभी जल्दबाजी में पूजा करनी पडती थी तो कभी पूजा किए बिना लौटना पडता था। इस नाराजगी की बात को ध्यान में लेकर बालापुर धर्मनगरी के उदार दिल सेठ श्री लालचंद खुशालचंदजी की नूतन जिनालय निर्माण की अपूर्ण रही भावना को उनकी धर्मपत्नी सेठाणी समरथबहन ने पूर्ण की । वि.स. 2020 फागण सुद त्रीज (ई.स.1964) के मंगल मुहूर्त में आ.भ. श्रीमद्विजय भुवनतिलक सूरिजी म.सा. की निश्रा में नूतन जिनालय में चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं सहित श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ परमात्मा की प्रतिष्ठा हुई।

तीर्थरक्षा में प्रकाशस्तंभ समान बनता श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ दादा का जिनालय

ई.स.1981 में श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ परमात्मा के जिनालय को सील लगाने के बाद आनेवाले भक्तो को परमात्मा के दर्शन, धूप-दीपादि पूजा और आरती वगेरह का लाभ तो मिलता है पर जल-चंदन-पुष्प वगेरह पूजा न हो पाने के अफसोस में विघ्नहर पार्श्वनाथ परमात्मा की पूजा आश्वासन रूप बनती है।

दिगंबरों द्वारा भगवान कैद करवाए गये....

ता.18-04-1981 को श्री अंत रिक्ष पार्श्वनाथ परमात्मा के जीर्ण हुए लेप को दूर कर नये लेप का काम शुरु हुआ। तब फिर से दिगंबरो ने लेपकार्य रोकने का प्रयास शुरु किया। उस प्रयत्न के भाग रूप ही ता.22-04-1981 को श्री अंतरिक्ष पार्श्वन ाथ परमात्मा के जिनालय को ताला लगवाकर परमात्मा को कैद करवाया। जो आज तक बंध हैं।

जहाँ तक केस का फैसला नही आता तब तक ताला खुले नही इस तरह की परिस्थिति कर दी। तथा कोर्ट में हारने के भय से दिगंबर केस की कार्यवाही आगे भी नही बढा रहे। दिगंबरो की मैली मुराद एक ही है कि या तो श्वते ांबर तीर्थ छोड दे या उनके अनुरूप समझौता करे। परंतु लाख लाख धन्यवाद श्वत े ांबर प्रबंधकों को जिन्होने लोगों से मिलते अपयश को पचाकर भी नि:स्वार्थ मेहनत की और धीरज बनाए रखा। थक कर सिर नही झकुाया। परिणामस्वरूप तीर्थ सुरक्षित रह सका।

दि. 14-8-1981 के मंगल दिन को तीर्थरक्षार्थ पू.पं.चंद्रशेखर वि.म.सा. का पदार्पण और उसका ईतिहास

तीर्थरक्षा के संकल्प के साथ पू.पन्यासप्रवर श्री चंद्रशेखरविजयजी म.सा.(तब मुनि), पू.हेम रत्नसूरिजी म.सा.(तब मुनि) आदि अनेक साधु भगवंतो और विविध समुदाय, गच्छ आदि की साध्वी भगवती ई.स.1981-1982-1983 के तीन वर्ष दरमियान चातुर्मास तथा शेषकाल में तीर्थ में आनेवाली प्रतिकूलताओं को सहन करके भी रुके। विविध आराधनाओ द्वारा तीर्थरक्षा के लिए अतिसूक्ष्मबल स्फुरित किया। उसके साथ भारत भर में तीर्थरक्षा के लिए जागृति लाने का महान कार्य किया।

प.पू.पं.विमलहंस वि.म., प.पू.पं.परमहंस वि.म. का पदार्पण

ई.स.2009 में पूज्यपाद शासन प्रभावक, अत ं रिक्ष महातीर्थ संरक्षक चंद्रशेखरविजयजी म.सा. मुंबई अध ं ेरी पद्मनगर में चातमु ार्सार्थ बिराजमान थे। अंतरिक्षजी तीर्थ के टस्ट्रीवर्यों ने गुरुदेवश्री को सुप्रीम कोर्ट का जजमेंट होने की संभावना बताई, साथ में तीर्थ में पधारने की आग्रहभरी विनंती की, मन से सशक्त पर तन से अशक्त बने गुरुदेवश्री ने तीर्थरक्षा के काम को आगे बढाने के लिए

संपूर्ण तीर्थ रक्षा की जवाबदारी के साथ अपने शिष्य पू.विमलहंस वि. आदि महात्माओं का इ.स.2010 का चातम ु ास आकोला श्री संघ में नक्की कर जय बुलवायी और अंतरिक्षजी की ओर विहार करवाया।

इ.स.2010 का चातुर्मास आकोला श्रीसंघ में पूर्ण कर छ:री पालित संघ के साथ मुनि श्री विमलहंस विजयजी म.सा. आदि ठाणा ने अत ं रिक्षजी तीर्थ में प्रवेश किया। शेषकाल में आस पास के संघो में विचरण कर 2011 का चातम ु ास अंतरिक्षजी तीर्थ में किया। लगभग 8 महीनो की अत ं रिक्षजी तीर्थ में स्थिरता के दौरान तीर्थ की तमाम वास्तविकता की जानकारी ली। अत्यंत विषम-विपरीत-विचित्र संयोगो में तीथर्रक्षा का काम बहुत मुश्किल प्रतीत हुआ, महात्मा हताशा और निराशा से ग्रसित थ े

नूतन संकुल निर्माण और श्वेताबंर पक्ष के मजबूत कदम

इ.स.2011 चातुर्मास दरमियान पूज्यपाद शासन प्रभावक पन्यास श्री चंद्रशेखर विजयजी म.सा ने अपना अंतिम श्वास श्रावण सुद 10 सोमवार के विजय मुहूर्त में अहमदाबाद के आंबावाडी संघ में लिए। दिव्य स्वरूप को धारण कर चुके गुरुदेव की आत्मा ने अत ं रिक्षजी तीर्थ की परिस्थिति पलटने का कार्य अदृष्य रूप से किया, ये एहसास विमलहंस विजयजी म.सा. को हुआ। प्रतिकूलताएँ अनुकूलताओं में परिवर्तित होने लगी। वातावरण सकारात्मक होने का अनुभव हुआ और मुनि श्री परमहंस विजयजी म.सा ने संघो में जागृति लाने हेतु अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा का उपयोग किया। प्रचार प्रसार के कार्यों के साथ यात्रिको के आवागमन व आवास-निवास वगेरह की संभवित सुव्यवस्थाएँ खडी करवायी। परिणामत: यात्रिकों का आवागमन बढने लगा। तीर्थ विकास के लिए आर्थिकबल भी मिलने लगा।

संभवित यात्रिकों की व्यवस्थाएँ भी कम प्रतीत होने लगी तब गुरुदेव के चरणस्पर्श से धन्य बनी पारसबाग की धन्य धरा पर श्री चतुर्विधसंघ की आराधना के लिए एक विराट संकुल का स्वप्नचित्र मुनिश्री परमहंस विजयजी ने आलेखित किया। यह आयोजन ट्रस्टियो को छोटा मुह बडी बात लगी, फिर भी सहर्ष सहमति दी। 2012 का मुनिश्री का चातम ु ास गुरुबंधु पू.पं.हंसकीर्तिविजयजी म.सा. की अनुज्ञा तथा आशिवाद र् से नवजीवन संघ, मुंबई में निश्चित हुआ। गुजरात वापी में पूज्यपाद सिद्धांत दिवाकर गच्छाधिपति श्रीमद् विजय

जयघोषसूरीश्वरजी की निश्रा में मुनिश्री विमलहंसविजयजी म.सा. आदि ठाणा की तीन दिवस की स्थिरता हुई। पूज्यश्रीओं ने अंत रिक्षजी तीर्थ की वर्तमानस्थिति और आशास्पद भविष्य का सविस्तार कथन किया, पूज्यपाद गच्छाधिपतिश्री ने अंत र से आशिर्वाद दिये और मुंबई तरफ विहार की अनुज्ञा दी। इ.स.2012 के चैत्र सुद ४ को मुनिभगवंतों ने मुंबई प्रवेश किया और अत ं रिक्ष तीर्थ अभ्युदय का शंखनाद किया।

नवजीवन संघ ने अद्भुत अकल्पनीय असाधारण सहकार अतं रिक्षजी के कार्य हेतु पूज्यपाद गुरुदेव श्री के संघऋण मुक्ति स्वरूप दिया। जंगी फण्ड की शुरुवात हुई, जिसके परिणाम रूप पारसबाग की भूमि पर का स्वप्न चित्र साकार बनने लगा। समग्र तीर्थ के उद्धार के प्राण स्वरूप मुख्य आधार स्तंभ के रूप में (जिस परिवार ने) भारतभर के अनेक और विदेश के संघो के कार्यों में उदारता पूर्वक, यश कीर्ति से दूर रहकर शुद्ध दान धर्म का लाभ लिया, जो विनय औचित्य आदि गुणों के भण्डार हैं, ऐसे शासनप्रेमी यानी **सुरत निवासी सेठ श्री कांतिलाल लल्लुभाई झवेरी परिवारने** लाभ लिया। भारतभर के अनेक संघ और अनेक भाग्यशालियों ने तीर्थ के उद्धार हेतु अमूल्य लाभ लिया हैं वैसे ही अनेक श्रेष्ठ कार्यकर्ता भी तीर्थ की सेवा में अपना सुंदर योगदान दे रहे हैं, जिसके परिणाम रूप हजारो यात्रिकों का आवागमन सुसंभवित हुआ और अत ं रिक्षजी तीर्थ का नाम लोगों के मानस पटल पर छा रहा हैं वतर्मान में प्रतिपक्ष की ओर से किसी भी प्रकार की परेशानी नही हैं, सुंदर-मधुर वातावरण में दोनो पक्ष अपनी अपनी सांप्रदायिक आराधना कर रहे हैं सर्वोच्च न्यायालय के जजमेंट का इंतजार हैं शायद देरी भी अच्छे के लिए हैं, अत: स्वीकार करना रहा।

पिछला फैसला क्या आया हैं ? श्री अंत रिक्षजीतीर्थ का अंतिम फैसला कब ?

ई.स. 1960 में वासीम कोर्ट में दाखिल हुआ केस 1981 तक मुलतवी रहा। तब पू.पन्यास प्रवर श्री चंद्रशेखरविजयजी म.सा. की प्रेरणा एवपंरमात्मा के प्रभाव से अहमदाबाद के सुश्रावक हाईकोर्ट के निवृत्त जज सेठ साकरचंदभाई ने मेहनत शुरु की। केस आगे बढा, वासीम कोर्ट से मालेगावं की कोर्ट में केस आया और शुरु हुआ। जिसमें जीत श्वेतांबरों की हुई। दिगंबर फिर ऊपर के कोर्ट में गये।

सबूतों के साथ अधिनियम भी श्वेतांबरों की तरफ

मालेगाँव की कोर्ट में जब केस की सुनवाई चालू थी उस समय

ई.स.1991 में भारत सरकार ने एक ऐसा नियम बनाया कि आजादी के दिन से यानी कि ई.स. 1947 की 15 अगस्त के दिन जिस किसी धर्मस्थान की जो परिस्थिति हो वह कायम रखा जाये, उसमें फेर बदल नही हो सकता। (Place of worship act). मालेगाँव में केस हम गुणवत्ता के कारण से जीते, उसके उपरातं यह अधिनियम भी अपने पक्ष में होने के कारण उसके बाद की वासीम डिस्टिक्ट्र कोर्ट और नागपुर हाईकोर्ट में भी हमारी जीत हुई।

निकट भविष्य में केस का फैसला आने की संभावना

ई.स. 1960 में दाखिल हुआ केस आगे बढते हुए ई.स. 2008 में सुप्रीम कोर्ट में दाखिल हुआ। शक्यता है कि अब नजदीक के समय में फैसला आ सकता है। कोर्ट की मुसाफिरी अंतिम बार होगी। सुप्रीम कोर्ट का निणय ् आखरी निर्णय होगा। श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ दादा ने हमे 6 कोर्ट में किसी भी प्रकार की परिस्थिति में जिताया है। तो दादा को विनंती करेंगे कि 'सातवी कोर्ट में अंतिम बार आप ही विजयी बनाना'।

वर्तमान में सुप्रीम कोर्ट में केस चल रहा है। सारे सबतू हमारे पक्ष में होते हुए भी सिर्फ तारीख मिल रही है.... प्रतिपक्ष अभी भी समझौते के मूड में है। फिर भी गुरुभगवंत के मार्गदर्शन, ट्रस्टियो कंा सहयोग तथा सकल श्री संघ के शुभ भावों से निकट के समय में फैसला आने की संभावना है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के लिए प.पू.गुरुदेवश्री मु.जंबूविजयजी म. के प्रशिष्य प.पू.प्रशांत मूर्ति आ.श्री. विजय पुण्डरिकरत्नसूरिजी म.सा. की तरफ से स्वीकृति मिलते ही आनंद वृद्धि हुई। साथ में प.पू.पं. विमलहंसविजयजी म. के साथ बातचीत के समय तीर्थ के ईतिहास का पुस्तक तीर्थ की तरफ से ही प्रकाशित करवाने की भावना व्यक्त की, नयी बातें और ईतिहास भी भिजवाया। पुस्तक को पुन: मुद्रित करने और प्रस्तावना लिखने के लिए मेरे कल्याणमित्र आशिष तालेडा द्वारा भी बहुत सपोर्ट मिला... उनका मैं आभारी हूँ तथा खास हमारे कल्याण मित्र और सुप्रीम कोर्ट के एडवोकेट श्री हर्षभाई सुराणा का भी मैं बहुत बहुत आभार मानता हूँ।

- भूषण शाह

अनुक्रमणिका

१. मूर्ति का परिचय १
२. विदर्भ देश २
३. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ का इतिहास २
४. श्री जिनप्रभसूरिजी का लिखा हुआ इतिहास ३
५. कालक्रम से तालाब का पानी सूख गया ४
६. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थकल्प का सार ६
७. कवि लावण्यसमय विरचित श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ छंद ९
८. कवि लावण्यसमयजी के छंद का सार १३
९. श्री भावविजय गणि रचित श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र १४
१०. पं. श्री भावविजय गणि के संस्कृत स्तोत्र का भावार्थ १५
११. पं. श्री भावविजय गणिकृत
श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र का सार २५
१२. तीर्थ-माला २९
१३. श्री विनयराज का स्तवन ३०
१४. श्री जिनचंद्रसूरि का स्तवन ३०
१५. प्राचीन जैनेतर साहित्य में श्री अंतरिक्षजी का निर्देश ३०
१६. अर्ध पद्मासनस्थ मूर्ति ३२
१७. रेती की प्रतिमा ३२
१८. निरालंब मूर्ति ३२
१९. पुजारियों का हस्तक्षेप ३३
२०. पुजारियों की अराजकता ३४
२१. पोलकर पुजारियों से समझौता ३४
२२. दिगंबरों का हस्तक्षेप ३५
२३. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ में श्वेतांबर और
दिगंबरों के पूजा करने का समय ३६
२४. श्री सागरानंद सूरिजी का प्रसंग ३७

२५. नागपुर हाइकोर्ट में अपील ३८
२६. सर्वोच्च न्यायालय में अपील ३९
२७. विलायत के सर्वोच्च न्यायालय का फैसला ४०
२८. DECREE ५०
२९. संक्षिप्त तीर्थोल्लेख ५२
३०. प्रतिमा लेख का ज्वलंत प्रमाण ५३
३१. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ छंद ५५
३२. एक प्राचीन स्तवन ५७
३३. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्रम् ५८
३४. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ जिनेश्वर स्तवन ५८
३५. श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तुति ५९
३६. संक्षिप्त नोंध ६२
३७. इस तीर्थ से संबंधित प्रमुख घटनाएँ ६२

अद्भुत चमत्कारपूर्ण श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ

इतिहास और तीर्थ महात्म्य

अंतरीक वरकाणो पास, जिराउलो ने थंभण पास ।
गाम नगर पुर पाटण जेह, जिणवर चैत्य नमुं गुणगेह ।।

प्रातः समय में हर जैन अपने घर में तीर्थ वंदना करते हुए उपरोक्त कंडिका के जरिए श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवंत को नमन करता है। यह तीर्थ विदर्भ देश के अकोला जिले के बासीम तहसील में शिरपुर (श्रीपुर) नामक गाँव में स्थित है। गाँव के छोर पर यह जिनालय है जिसके तहखाने के एक बडे गोख में श्री अंतरिक्ष भगवंत की मूर्ति विराजमान है।

मूर्ति का परिचय

मंदिर के तहखाने में (भोंयरा) फनसहित ४२ इंच ऊ ंचीऔर ३० इंच चौडाईवाली अर्ध पद्मासनस्थ यह मूर्ति बिराजमान है। इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि वह दायें-बायें, नीचे-उपर, पिछली ओर बिना स्पर्श किये अधर स्थित है। प्रतिमाजी के दोनों घुटनों के पास दीये रखने पर मूर्ति के नीचे सर्वत्र प्रकाश फैला हुआ दिखायी देता है। इस मूर्ति का अधर रहना एक बडा (अतिशय) चमत्कार माना जाता है। इसी कारण से सैंकडों वर्षों से अनेक आचार्य भगवंत, गणिवर, मुनिवर सैंकडों श्रावकों के संघ लेकर यहाँ आते रहे हैं।

बहुत से यात्री मुनिराजों ने इस तीर्थ के बारे में कुछ-न-कुछ लिख रखा है। जिसमें से काफी ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

यद्यपि आजकल प्रतिमाजी अपने बायें घुटने के अग्रभाग के नीचे तथा पीठ के बायें किनारे पर इस प्रकार, दो जगह पर नहिवत् बिंदुमात्र भाग पर स्पर्श करती है। लोगों की यह मान्यता है कि प्रतिमा के हाथ पर और गोद में पैसे चढाने की पद्धति है। इन पैसों में से कोई दूर से फेंका गया पैसा प्रतिमाजी के घुटने के नीचे गढ गया हो, यह संभव है। लेकिन यह स्पष्ट और निश्चित है कि बिंदुमात्र जगह के स्पर्श से इतनी बडी भारी प्रतिमा अधर, निरालंबी नहीं रह सकती। दैवी प्रभाव ही इसमें कारण हो सकता है, इसमें

लेशमात्र शंका को स्थान नहीं।

अपने अपार तेज से जगमगाती हुई यह कलिकाल की एक दिव्य ज्योति है। श्री पार्श्वनाथ भगवंत की महिमा और प्रत्यक्ष प्रभाव केवल इसी स्थान पर दिखायी देता है। इस प्रतिमा के दर्शन करके आस्तिकों का फूला न समाना तो स्वाभाविक ही है किंतु नास्तिक भी यहाँ आकर झुक पडते हैं। नास्तिक को आस्तिक बनाने की ताकत और प्रभाव इस प्रतिमा में है। केवल जैन ही नहीं अपितु शिरपुर में और इर्द-गिर्द बसे हुए जैनेतर समाज भी इस मूर्ति पर अपार श्रद्धा रखते हैं। यही कारण है कि वे यहाँ निरंतर वंदन-दर्शनार्थ आते-जाते रहते हैं।

विदर्भ देश

जिस प्रांत में यह तीर्थ है वह वऱ्हाड कहलाता है। लेकिन इसका प्राचीन नाम 'विदर्भ' है।

'सुलसा चंदनबाला मनोरमा मयणरेहा दमयंती' इस **'भरहेसर'** स्वाध्याय की पंक्ति से जिसका हम प्रातःकाल में स्मरण करते हैं उस 'दमयंती' का जन्म इसी विदर्भ की राजधानी कुंडिनपुर में हुआ था। विदर्भराजा की पुत्री की हैसियत से दमयंती को 'वैदर्भी' भी कहा जाता है। आज भी कुंडिनपुर अमरावती जिले के चांदूर तहसील में विद्यमान है और अमरावती से वह २८ मील दूर है।

पउमावई य गोरी गंधारी लक्खमणा सुसीमा य।
जंबुवई सच्चभामा रुप्पिणी कण्हट्ठ महिसिओ।

इस 'भरहेसर' स्वाध्याय की गाथा में जिसका उल्लेख है और जो नेमिनाथ भगवान के पास दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष में गयी है उस महासती रुक्मिणी का जन्म भी इसी विदर्भ के पाटनगर कुंडिनपुर में भीष्मक राजा के वहाँ हुआ था। नदी के किनारे विठ्ठल (कृष्ण) रुक्मिणी का मंदिर है। कुंडिनपुर को लोग कौंडिन्यपुर भी कहते हैं। कार्तिकी पूर्णिमा को यहाँ बडा मेला लगता है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ का इतिहास

प्राचीन विदर्भ की भूमि को पावन करनेवाले इस तीर्थ की स्थापना कब

और किसने की आदि की जानकारी प्राप्त करने में पाठकों को बहुत आनंद आयेगा।

इस तीर्थ की यात्रा के लिए अनेक आचार्य और मुनिगण आते रहते हैं। वाचक प्रवर उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज भी यहाँ पधारे थे और उन्होंने श्री अंतरिक्षजी के दो स्तवन बनाये हैं।

यात्रा के लिए पधारे हुए कुछ मुनिवरों ने इस तीर्थ-संबंधी संक्षिप्त या विस्तृत वर्णन कर रखे हैं। उनके जरिए हम इस तीर्थ-संबंधी ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

वैसे तो बहुत-सी प्राचीन रचनाओं में श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का उल्लेख मिलता है, किंतु वह उल्लेख केवल 'अंतरिक्ष' नाम का ही है। फिर भी पाँच-छ उल्लेख ऐसे भी हैं जो नाम के साथ इस तीर्थ के बारे में भी हमें कुछ बताते हैं। ये सब उल्लेख कुछ बातों में एक-दूसरों से मिलते-जुलते हैं तो कुछ बातों में अलग-अलग मंतव्य धारण किये हुए भी हैं। ये उल्लेख संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा में हैं। वे यथालभ्य इस पुस्तक में ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं। उनका भावार्थ कालक्रम को सामने रखते हुए नीचे दिया गया है जिस पर से हम इस तीर्थ के इतिहास का अभ्यास कर सकते हैं।

श्री जिनप्रभसूरिजी का लिखा हुआ इतिहास

खरतरगच्छ में एक महाप्रभावी आचार्य हो गये जिन्होंने अपने प्रभाव और कुशलता से दिल्ली के बादशाह महमद तघलख को भी प्रभावित किया था। आपने भारतवर्ष के (सब तीर्थों का-काश्मीर से कन्याकुमारी और आसाम से अंजार तक का) चारों कोनों में के सब तीर्थों का वर्णन करते हुए ५० कल्पों की रचना की है। ये कल्प '**विविध तीर्थकल्प**' नामक ग्रंथ में प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'श्रीपुर अंतरिक्ष पार्श्वनाथकल्प' भी एक है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इस कल्प की रचना विक्रम संवत् १३६४ से १३८९ के आसपास हुई होगी। श्री जिनप्रभसूरिजी ग्रामानुग्राम चैत्य-परिपाटी करते हुए दक्षिण महाराष्ट्र में पधारे थे। उन्होंने देवगिरी (दौलताबाद) और प्रतिष्ठानपुर (पैठण) की भी यात्रा की थी। प्रायः उसी वक्त उन्होंने श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ की यात्रा करके 'श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प की' रचना की होगी। श्री अंतरिक्षजी के सब उल्लेखों में सबसे प्राचीन उल्लेख यदि कोई हो तो

वह श्री जिनप्रभसूरिजी का किया हुआ ही है।

इस कल्प में श्री जिनप्रभसूरि कहते हैं कि श्रीपुर नगर के आभूषण समान प्रकट प्रभावी श्री पार्श्व प्रभु को वंदन करके अंतरिक्ष में (आकाश में निराधार) रही हुई आपकी प्रतिमा के कल्प का मैं कुछ वर्णन करता हूँ।

बहुत प्राचीन काल की बात है। लंका के राजा रावणने अपने मालि तथा सुमालि नामक दो सेवकों को किसी काम के लिए कहीं भेजा था।

वे दोनों अपने मालिक के काम के लिए विमान में चढकर निकल पडे। रास्ते में भोजन का समय हुआ। उनका सेवक भोजन की तैयारी करने लगा। साथ लाये हुए सामान को टटोलते हुए उसे ज्ञात हुआ कि जिन-प्रतिमा का करंडक साथ में लेना वह बिलकुल भूल गया। वह चिंता में पड गया क्योंकि उसे मालूम था कि उसके मालिक बिना जिन-प्रतिमा की पूजा किये भोजन नहीं करते। जब विमान नीचे उतरा तो सुमालि ने अपनी विशेष विद्याशक्ति के द्वारा रेती से एक भावी जिनेश्वर श्री पार्श्व प्रभु की प्रतिमा बनाकर रख दी। मालि-सुमालि ने उस प्रतिमा का पूजन कर भोजन किया। जब वे दोनों फिर से विमान पर चढने को तैयार हुए तो फूलमालि ने उक्त प्रतिमा को नजदीक के तालाब में धर दिया। दैवी प्रभाव के कारण तालाब में रहते हुए भी प्रतिमा अखंड ही बनी रही।

कालक्रम से तालाब का पानी सूख गया

उसी समय विंगउल्ली (हिंगोली) देश के विंगल्ल नामक नगर में श्रीपाल राजा राज्य करता था। वह राजा कुष्ठरोग-पीडित था। एक बार शिकार खेलने के निमित्त वह शहर से बाहर गया। प्यास से व्याकुल होने के कारण वह पानी की खोज में निकल पडा। घूमते-घामते वह ठीक उस तालाब के पास आ पहुँचा जिसमें सुमालि ने श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा रख छोडी थी। राजा ने उस तालाब के पानी में हाथ-पाँव धोकर थकावट दूर की और भरपेट पानी पिया। किंतु क्या आश्चर्य ! देखते-ही-देखते राजा का मुख तथा हाथ-पाँव निरोगी और कांतिमय हो उठे। राजा आश्चर्यचकित और आनंद-विभोर हो उठा। जब वह घर पहुँचा तो रानी खुशी के मारे नाच उठी और उसने राजा से पूछा, ''स्वामी, क्या आपने किसी जगह पर स्नान किया है ? अथवा क्या आपने किसी वनस्पति का सेवन किया है ?'' जवाब में राजा ने तालाब में

मुँह-हाथ धोने की बात कही। रानी को विश्वास हो गया कि निश्चय ही उस पानी में कोई दैवी प्रभाव होगा।

दूसरे दिन राजा को साथ लेकर रानी वहाँ पहुँची और उसने राजा को वहाँ स्नान करवाया। राजा कोढी से एक सुंदर कांतिवाले और निरोगी पुरुष में बदल गया। इसके बाद रानी ने वहाँ के वनदेवता की बलिपूजा की और प्रार्थना की कि यहाँ जो कोई भी देवता हो वह कृपया प्रकट होकर दर्शन दे। घर आने के बाद रानी ने एक स्वप्न देखा। उसमें उस तालाब के देवता ने रानी से कहा कि इस तालाब में भावी तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है। उसीके प्रभाव से राजा का शरीर निरोगी हुआ है। अगर तुम अपने पति की भलाई चाहती हो तो इस प्रतिमा को बाहर निकालकर उसकी प्रतिष्ठापना करो। परंतु यदि तुम प्रतिमाजी को अपनी राजधानी में ले जाना चाहती हो तो तुम्हें कुछ शर्तों को मान्य करना होगा। वे शर्तें इस प्रकार की हैं : बैलगाडी को सात दिन के जन्मे हुए बछडे जोते जाय। उन्हें जोतने के लिए और लगाम के लिए कच्चे सूत का उपयोग किया जाय। ऐसी गाडी में प्रतिमाजी को रखकर राजा खुद सारथी बनकर उस गाडी को अपने घर ले जाय। अपनी मुसाफिरी में राजा को चाहिए कि वह पीछे मुडकर न देखे। अगर राजाने मुडकर देखा तो प्रतिमाजी उसी स्थान पर रुक जाएँगी।

दूसरे दिन राजा ने तालाब से प्रतिमाजी को निकलवाया और देवता की आज्ञानुसार उस प्रतिमा को लेकर घर की ओर चल पडा। थोडी दूर जाने के बाद राजा को शंकाने घेरा। वह सोचने लगा, 'न जाने प्रतिमाजी गाडी में है या नहीं ?' इस विचार के साथ ही उसने मुडकर पीछे देखा किंतु राजा के देखते ही तत्क्षण प्रतिमाजी उसी स्थान पर अंतरिक्ष में स्थिर हो गयी और गाडी आगे चल पडी। प्रतिमाजी वहीं रुक जाने से राजा को बहुत दुःख हुआ लेकिन उसने उसी स्थान पर श्रीपुर नामक नगर बसाया और वहाँ जिनालय बनवाकर उसमें महोत्सवपूर्वक उस प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करवायी। राजा प्रतिमाजी की त्रिकाल पूजा करता रहा।

आज भी वह प्रतिमा उसी प्रकार अंतरिक्ष में निरालंब स्थित है। कहा जाता है कि पहले जमाने में कोई पनिहारी सिर पर घडा रखकर प्रतिमा के नीचे से निकल सके इतनी प्रतिमा अधर थी। लेकिन कालक्रम से जमीन उपर उठ आयी अथवा तो कलिकाल के दूषित प्रभाव से आज यह अंतर कम हो

गया है। आज प्रतिमा के नीचे से केवल (अंगलूंछना) एक वस्त्र निकलता है। प्रतिमा के दायें-बायें दीया रख देने से संपूर्ण प्रतिमा के नीचे फैला हुआ प्रकाश स्पष्ट दिखायी देता है।

जिस वक्त राजा ने प्रतिमा को गाडी में रखा था, उस वक्त प्रतिमा के साथ अंबादेवी और क्षेत्रपाल थे। अंबादेवी के सिद्ध और बुद्ध दो पुत्र थे। जल्दी से अंबादेवी ने अपने एक पुत्र को ही साथ में लिया और दूसरा पीछे छूट गया। इसलिए अंबा ने क्षेत्रपाल को हुक्म दिया कि लडके को ले आओ किंतु प्रयत्न करने पर भी क्षेत्रपाल उसके पुत्र को न ला सका। इसलिए अंबादेवी के क्रोध का पार न रहा और उसने क्षेत्रपाल के सिर पर कोई वस्तु दे मारी। आज भी क्षेत्रपाल के सिर पर उसका चिह्न है। इस प्रकार अंबादेवी और क्षेत्रपाल जिसकी सेवा कर रहे हैं और धरणेंद्र तथा पद्मावती जिनकी उपासना करते हैं। ऐसी यह श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवंत की भव्य प्रतिमा भव्यताओं की उपास्य बन गयी है। लोग भक्ति-भाव से उसकी पूजा करते हैं। हजारों मील तथा विविध स्थानों से आये हुए यात्री यहाँ यात्रा-महोत्सव मनाते हैं। यहाँ मेला भी लगता है। जिस पानी से प्रतिमा का प्रक्षाल होता है (जिसे नमनगंधोदक कहा जाता है) वह यदि आरती पर छिंटका जाए तो भी आरती बुझती नहीं। यह नमन शरीर पर लगाने से खुजली, कोढ जैसे चमडी के रोग नष्ट हो जाते हैं। आज भी यह प्रभाव अनुभवसिद्ध है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवंत के बारे में जो कुछ भी जानकारी मिली है और जो सुनी है वह श्री जिनप्रभसूरि ने स्व-पर कल्याणार्थ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प में लिखी है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थकल्प का सार

श्री जिनप्रभसूरि के उपर्युक्त वर्णन में से हम निम्नलिखित मुख्य बातों का सार निकाल सकते हैं :-

रावण के सेवक मालि और सुमालि किसी काम के लिए विमान से जा रहे थे। रास्ते में भोजन के लिए नीचे उतरने पर ध्यान में आया कि पूजन के लिए जिनप्रतिमा को साथ में लेना वे भूल गये हैं। बिना जिन-पूजा के भोजन करना उनके लिए महापाप था। इसलिए दूरदर्शी सेवक फूल-मालि ने उनके पूजन के लिए रेती से श्री पार्श्वनाथ भगवान की एक मूर्ति बनायी और

साध्य सिद्ध होने के बाद उक्त प्रतिमा को पास के तालाब में धर दिया। पानी में रेती की प्रतिमा तो तुरंत ही नष्ट हो सकती है किंतु दैवी प्रभाव से प्रतिमा अखंड रही।

विंगउल्ली (हिंगोल्ली) प्रदेश के विंगउल्ल (हिंगोल्ली) नगर का राजा श्रीपाल कुष्ठ-रोग से पीडित था। वह रोग उस प्रतिमा के स्पर्श से पवित्र बने हुए तालाब के पानी में स्नान करने से नष्ट हो गया। राजा-रानी को स्वप्न में एक देवता ने कहा कि इस तालाब के पानी में भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर भगवंत पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। एक गाडी में सात दिन के जन्मे हुए बछडे जोतकर उस गाडी में प्रतिमा रखी जाए। कच्चे सूत से ही बछडे को गाडी में जोता जाए। ऐसे अजीब रथ का सारथी राजा खुद बने और जब तक वह अपने गाँव में न पहुँचे तब तक पीछे मुड के न देखे। यदि मुड के देखेगा, तो तत्क्षण उसी स्थान पर मूर्ति स्थिर हो जाएगी। देवता की आज्ञानुसार सब इंतजाम हो गया। और राजा सोत्साह अपनी नगरी की तरफ चल पडा। किंतु थोडा रास्ता तय करने पर राजा से रहा न गया। उसे शक हुआ कि, मूर्ति पीछे रह गयी हो तो! उसने पीछे मुड के देखा और मूर्ति वहीं पर रुक गयी। राजा को बहुत दुःख हुआ। किंतु दूसरा कोई चारा न होने से उसने वहाँ श्रीपुर नामक नगर बसाया। उस नगर में एक उत्कृष्ट चैत्य बंधवा के उसमें उक्त मूर्ति की स्थापना करवायी। श्री जिनप्रभसूरि के इस वर्णन से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त घटना भगवंत पार्श्वनाथ के जन्मकाल के पहले ही आकार ले चुकी थी।

श्री जिनप्रभसूरि लिखते हैं कि पहले प्रतिमा के नीचे से पनिहारी सिर पर गागर लेकर आसानी से निकल जाती थी। इतनी यह प्रतिमा आकाश में अधर निरालंब थी मगर कलियुग के कारण आज उसके नीचे से केवल एक वस्त्र ही निकल सकता है। इससे यह प्रकट है कि श्री जिनप्रभसूरिजी के वक्त में भी लगभग ६२५ वर्ष पहिले प्रतिमाजी आज इक्कीसवीं सदी में जितनी अधर है उतनी ही अधर थी।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ का श्री जिनप्रभसूरिकृत संवत् १३८५ आसपास के ऐतिहासिक वृत्तांत बाद 'राजा नामक संघवी ने वि.सं. १४७३ पूर्व अंतरिक्षजी की यात्रा की थी' ऐसा उल्लेख मिलता है। किंतु इस यात्रा वर्णन में अंतरिक्षजी के नामोल्लेख सिवा और कोई जानकारी नहीं मिलती। ऐसे ही सब उल्लेख पुस्तक के अंतभाग में जैसे-के तैसे समाविष्ट किये गये हैं।

इन नामोल्लेखों को यदि दूर रखा जाए तो श्री जिनप्रभसूरि के 'श्रीपुर अंतरिक्ष पार्श्वनाथकल्प' के बाद वि.सं. १५०३ में लिखित **'उपदेशसप्तति'** का क्रम आता है। तपागच्छाधिपति आचार्य श्री सोमसुंदरसूरिजी के शिष्य महोपाध्याय श्री चारित्ररत्न गणि के शिष्य पं. श्री सोमधर्म गणि ने इस ग्रंथ की रचना की है। उन्होंने अपने उपदेशसप्तति के दूसरे अधिकार में दसवें उपदेश में २४ वें श्लोक में श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ के इतिहास का वर्णन किया है। यह वर्णन यदि कुछ शाब्दिक हेर-फेर को छोड दिया जाय तो श्री जिनप्रभसूरिजी के वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता ही है।

उपदेशसप्तति के अंतरिक्षजी के अधिकार में २१, २२ और २४ वें श्लोक में ग्रंथकार कहते हैं :-

निवेश्य नगरं नव्यं श्रीपुरं तत्र भूपतिः।
अचीकरच्च प्रोत्तुंगं प्रासादं प्रतिमोपरि ॥ २१ ॥

घटौ गर्गेरिकायुक्तौ न्यस्यनारी स्वमस्तके।
तद्बिम्बाधः प्रयाति स्म पुरेति स्थविरा जगुः ॥ २२ ॥

कियदंतरमद्यापि भूमि-प्रतिमयोः खलु।
अस्तीति तत्र वास्तव्या वदन्ति जनता अपि ॥ २४ ॥

भावार्थ : राजा ने वहाँ श्रीपुर नगर बसाया तथा वहाँ उँचा जिन-मंदिर बनवाया। एक पर एक ऐसे दो घडे रख (वे उठाकर) पनिहारी मूर्ति के नीचे से निकल जाय इतनी मूर्ति अधर रही थी। अभी भी प्रतिमा और भूमि में कुछ अंतर है ऐसा शिरपुर के वतनी वृद्ध लोग कहते हैं।

इस बात से यह स्पष्ट सूचित होता है कि सोमधर्म गणिजी ने यह वृत्तांत स्वयं श्री अंतरिक्षजी का दर्शन करके लिखा नहीं है। किंतु कर्णोपकर्ण से सुनकर या पूर्वगामियों के लेख के आधार पर लिखा है।

मालि-सुमालि का प्रतिमा बनाना, उस प्रतिमा के स्पर्श से पवित्र बने जल से स्नान करने से इंगोलि नगर के राजा का कुष्ठरोग का दूर होना, अधिष्ठायक देवता के कहने से विशिष्ट प्रकार की गाडी से प्रतिमा का नगर तरफ ले जाना, राजा के मुडकर देखने से प्रतिमा का वहीं रुक जाना, बादमें राजा का श्रीपुर नगर की स्थापना करके वहाँ मंदिर बनवाकर प्रतिमाजी की

प्रतिष्ठापना करना इत्यादि महत्त्व की बातें इसमें हैं। किंतु जिनप्रभसूरिजी ने जो अंबादेवी और क्षेत्रपाल-संबंधी बातें लिखी है वे उपदेशसप्तति में बिलकुल नहीं है। दूसरे भी और किसी स्थान पर यह जानकारी नहीं मिलती।

कवि लावण्यसमयविरचित
श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ छंद

सरसवचन दे सरसति मात, बोलिस आदिजिसि विख्यात।
अंतरीक त्रिभुवननो धणी, प्रतिमा पास जिनेसरतणी ॥ १ ॥

लंकधणी जे रावणराय, तेहतणो बनेवी कहेवाय।
खरदूषण नामे भूपाल, अहिनिसि धर्मतणो प्रतिपाल ॥ २ ॥

सद्गुरुवचन सदा मन धरे, त्रिण काल जिनपूजा करे।
मन आखडी धरी छे एम, जिनपूजाविण जमवा नेम ॥ ३ ॥

एकवार मन उलट धरी, गज रथ घोडा पायक तुरी।
चड्यो खाडी सहु संचरे, साथे देहरासर विसरे ॥ ४ ॥

देहरासरियो चिंते इस्युं, विन देहरासर करवुं किस्युं ?
रायतणे मन ए आखडी, जिनपूजाविण नहीं सुखडी ॥ ५ ॥

प्रतिमा विण लागी चटपटी, चड्यो दिवस दस बारह घटी।
कर्या एकठा बेलु छान, सा (मा) थें साखी कीधो भाण ॥ ६ ॥

नहीं कोई बीजी आसनी, प्रतिमा निपाई श्री पासनी।
ते करता नवि लागी वार, थाप्यो महामंत्र नवकार ॥ ७ ॥

पंच परमेष्ठीनो करे ध्यान, करी प्रतिष्ठा सहु प्रधान।
देहरासरीयों हरखें हसे, प्रतिमा देखी मन उल्लसे ॥ ८ ॥

आव्यो राजा करी अंघोल, बावना चंदन केसर घोल।
प्रतिमा पूजी लाग्यो पाय, मन हरख्यो खरदूषण राय ॥ ९ ॥

एक वेलु ने बीजो छाण, प्रतिपानो आकार प्रमाण।
धरमी राजा चिंता करे, रखे कोई आशातना करे ॥ १० ॥

प्रतिमा देखी हियडु ठरे, साथसहित भला भोजन करे।
तेहज वेला तेहज घडी, प्रतिमा वज्रतणी परे जडी ॥ ११ ॥

खंध धरी खरदूषण भूप, प्रतिमा मेली तव जलकूप ।
गयो काल जलमाही घणो, प्रतिमा प्रगटी हवे तो सुणो ॥ १२ ॥

एलगपुर एलगदेराय, कुष्टी छे भूपतिनी काय ।
न्यायवंत नवि दंडे लोक, पृथिवी वरतें पुण्यसिलोक ॥ १३ ॥

रायतणे शिर मोटो रोग, रयणीमर नवि निद्राजोग ।
रोम रोम कीडा संचरे, राणी सवी निंद्रा परिहरे ॥ १४ ॥

जे कीडानो ठामज जिहां, ते पाछावली मेले तिहां ।
जो नवि जाई तेहने ठाय, ततखण राजा अचेतन थाय ॥ १५ ॥

रायराणी संकट भोगवे करमे दोहला दिन जोगवे ।
रयणीभर नवि चाले रंग, दीसे काया दीसे चंग ॥ १६ ॥

एकवार हय गज रथ परीवर्यो, रमवा रयवाडी संचर्यो ।
साथे समरथ छे परिवार, पाळा पायकनो नहीं पार ॥ १७ ॥

जातां भाण मथाळे थयो, मोटी अटवी माहे गयो ।
थाको राजा वड विश्राम छाया लागी अति अभिराम ॥ १८ ॥

लागी तृषा निर मन धर्युं, पाणी दीठुं झाबल भर्यु ।
पानी पीधो गलणें गली, हाथ पग मुख धोया वली ॥ १९ ॥

करी रयवाडी पाछा वल्यो, पहेला जई पटराणी मल्यो ।
पटराणी रलियात थई, थाक्यो शय्या पोढ्यो जई ॥ २० ॥

आवी निद्रा रयणी पडी, पासे रही पटराणी बडी ।
हाथ पाय मुख निरखे जाम, ते कीडा नवि देखे ठाम ॥ २१ ॥

राणीने मन कौतुक वस्यो, हरखी राणी हियडे हस्यो ।
जाग्यो राजा आलस मोड, राणी पूछे बे कर जोड ॥ २२ ॥

स्वामी काल रयवाडी किहां, हाथ पाय मुख धोया जिहां ।
ते जलनो कारण छे घणो, स्वामी सरसे आपणो ॥ २३ ॥

राजा जंपे राणी सूणो, अटवी पंथ अछें अति घणो ।
वड तीर झाबल जल भर्यो, हाथ पाय मुख धोवन कर्यो ॥ २४ ॥

में प्रभु लीधो तेहनो भेद, आपण जास्युं वड विछेद ।

रथ जोतरीआ तुरंगम लेय, राय राणी मिल चाल्या बेय ॥ २५ ॥

तिहां दीठुं झाबल वड तीर, जाणे मानसरोवर नीर ।
हरखी राणी हियडे रंग, राजा अंग पखाळे चंग ॥ २६ ॥

गयो कष्ट ने वध्यो वान, देह थई सोवन समान ।
आव्यो राजा एलगपुरी, मांडे ओच्छव आणंद धरी ॥ २७ ॥

घरघर तलिया तोरण ताट आवे वधामणा माणिक माट ।
भारीय घण आवे भेटणो, दान अमोलक दीजे घणो ॥ २८ ॥

राय राणी मन थयो संतोष, कर्यो अमारीतणो निर्घोष ।
सप्तभूमि ढाले पर्यंक, तिहां राजा सुबे निःशंक ॥ २९ ॥

चंदन चंपक पुर कपूर, महके वास अगर भरपूर ।
रयणीभर सुपनांतर लहे, जाणे नर कोई आवी कहे ॥ ३० ॥

अति उंचो करी अंबप्रमाण, नीलो घोडो नीलो पलाण ।
नीला टोप नीला हथीआर, नील वरण आव्यो असवार ॥ ३१ ॥

सुण रे एलग पुरना भूप, जिहां जल पीधो तिहां छे कूप ।
प्रगट करावे वहेलो थई, तिहां प्रतिमा माहरी छे सही ॥ ३२ ॥

करी मलोखानी पालखी, माणिक मोती जडी नवलखी ।
काचे तातणे साथे धरी, हुं आवीश तिहां बेशी करी ॥ ३३ ॥

जे आजना जाया ततखेह, वाछरडा जोतरजो तेह ।
पूंठ मम वालीस जोबा भणी, सिखामण देउं छुं घणी ॥ ३४ ॥

इस्यो सुपन लही जाग्यो राय, प्रहउठी वनमांहे जाय ।
चाल्यो भली सजाई करी, ते आव्यो वडपासे वही ॥ ३५ ॥

ते जलकूप खणाव्योजाम, प्रगट्यो कूप अचल अभिराम ।
भर्यो नीर गंगाजल जिस्यो, हरख्यो राजा हियडें हस्यो ॥ ३६ ॥

करी मलोखानी पालखी, माणिक मोती जडी नवलाखी ।
काचे तांतणे मेली ठाम, आवी बेठा त्रिभुवन स्वाम ॥ ३७ ॥

पास पधार्या कंठे कूवा, उच्छव मेरु समाना हुआ ।
रथे जोतर्या बे वाछडा, चाल्या ते खेड्याविण छडा ॥ ३८ ॥

गाय कामिनी करे किल्लोल, बाजे भुंगल भेरी ढोल ।
पालखी वाहनने आकर, नवि भांजे परमेसर भार ॥ ३९ ॥

प्रौढी प्रतिभा भारे घणी, पालखी छे मलोखातणी ।
राजा मन आव्यो संदेह, किम प्रतिमा आवे छे एह ? ॥ ४० ॥

वांकी दृष्टि कर्यो आरंभ, रही प्रतिमा थानक थिरथंभ ।
राजा लोक चिंतातुर थयो, ए प्रतिमानो थानक थयो ॥ ४१ ॥

सूत्रधार सिलावट सार, तेडी आप्यो गरथ भंडार ।
आलस अंगतणा परिहरो, वेगे इहां जिन मंडप करो ॥ ४२ ॥

सिलावट तिहां रंगरसाल, कीधा जिनप्रासाद विसाल ।
ध्वजदंड तोरण थिरभंग, मंडप बांध्या नाटारंभ ॥ ४३ ॥

पवासण किधो छे जिहां, ते प्रतिमा नवि बेसे तिहां ।
अंतरीक उंचा एटले, तले असवार जाये तेटले ॥ ४४ ॥

राजा राणी मनने कोड खरचे द्रव्यतणी तिहां कोड ।
सप्त फणा मणि सोहे पास, एलगरायनि पूरी आस ॥ ४५ ॥

पूजे प्रभुने उखेवे अगर, तिन ठामे वास्यो श्रीनगर ।
राजा राजलोक कामिनी, ओलग करे सदा स्वामिनी ॥ ४६ ॥

सेवा करे सदा धरणेन्द्र, पउमावई आपे आनंद ।
आंवे संघ चिहुं दिशितणा, मांडे ओच्छव आनंद घणा ॥ ४७ ॥

लाखेणी प्रभु पूजा करो, मोटो मुगट मनोहर भरो ।
आरति एक सवि मंगलमाला, भुंगल भेरी झाकझमाल ॥ ४८ ॥

आजलगे सहुको इम कहे, एकज दोरो उंचा रहे ।
आगल तो जातो असवार, ज्यारे एलगदे राय अवतार ॥ ४९ ॥

जे जिम जाण्यो ते तिम सही, वात परंपर सद्गुरू कही ।
बोली आदि जिसी मन रुली, निरतुं जाणे ते केवली ॥ ५० ॥

अश्वसेन राय कुल अवतंस, वामाराणी उदरे हंस ।
वाराणसी नगरी अवतार, करजो स्वामी सेवक सार ॥ ५१ ॥

भणे गुणे जे सरलें साद, स्वामी ताहरां स्तवन रसाल ।

धरमी जन जे ध्याने रहे, बेठा जात्रातणो फल लहे ॥ ५२ ॥

उलट आखात्रीजे थयो, गायो पास जिनेसर जयो ।
बोलीस बे कर जोडी हाथ, अंतरिक श्री पारसनाथ ॥ ५३ ॥

संवत पनर पंचाशी जाण, मास शुदि वैशाख वखाण ।
मुनि लावण्यसमय कहे मुदा, तुम दरसन पामे सुखसंपदा ॥ ५४ ॥

श्री लावण्यसमयजी के छंद का सार :-

श्री लावण्यसमयजी ने वि.सं. १५८५ में अक्षयतृतीया के दिन गुजराती में बनाये ५४ गाथा में श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ छंद का तीसरा क्रम आता है। तीर्थ-स्थापना आदि से संबंधित इसमें वर्णनात्मक और अलंकारात्मक भाग ही अधिक है किंतु श्री जिनप्रभसूरिजी और सोमधर्म गणि वर्णित वृत्तांत से इस छंद के वर्णन में बहुत सी भिन्नता है। जिनप्रभसूरि और सोमधर्म गणिजी ने जहाँ रावण के सेवकों का मालि और सुमालि नाम दिया है वहाँ लावण्यसमयजी ने रावण के बहनोई खरदूषण का नाम दिया है । लावण्यसमयजी के बाद जितने भी छंदों की रचना हुई है उन सबमें खरदूषण राजा का ही उल्लेख है।

दूसरा एक महत्त्व का भेद है कि श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान के अधिष्ठायक देवता ने विंगउल्ली (हिंगोली) नगर के राजा से तालाब में भावी तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा है ऐसा कहा, इत्यादि सब वृत्तांत श्री जिनप्रभसूरि और श्री सोमधर्म गणि ने लिखा है किंतु श्री लावण्यसमयजी ने एलचपूर के एलचदे (व) राजा का नाम दिया है किंतु भावी तीर्थंकर का आपने उल्लेख तक नहीं किया।

एलचपुर विदर्भ देश में २१/२८ उत्तर अक्षांश और ७७/३३ पूर्व रेखांश पर है। विदर्भ के इतिहासकारों की परंपरानुगत मान्यता के मुताबिक ईल याने इलच नाम का राजा वि. सं. १११५ में एलचपुर का शासक बना। इस पर से इस तीर्थ की स्थापना श्री पार्श्वप्रभु के काल से पहले नहीं अपितु पार्श्वप्रभु के निर्वाण के बहुत काल बाद वि. सं. १११५ के बाद हुई है। ऐसा अनुमान श्री लावण्यसमयजी के कथन से हम निकाल सकते हैं। इस कथन को आगे चलकर श्री भावविजय गणि ने लिखे कथन का समर्थन मिलता है। भावविजय गणि को स्वप्न में प्रत्यक्ष पद्मावती देवी ने आकर कहा कि, इस

तीर्थ की स्थापना वि. सं. ११४२ के माघ शुद्ध ५ रविवार के दिन विजय मुहूर्त में एचलपुर नगर के श्रीपाल (अपरनाम एचल राजा) की प्रार्थना से पधारे हुए मल्लधारी श्री अभयदेवसूरि के हाथों से हुई और लावण्यसमयजी के बाद में जो कुछ भी इस तीर्थ के बारे में लिखा गया है उन सब में एलचपुर के एलच या इलच राजा का नाम आता है। लावण्यसमयजी के छंद से अंतरिक्षजी के इतिहास में यह महत्व का भेद है। जब कि श्री जिनप्रभसूरिजी और सोमधर्म गणिजी के कथनानुसार यह राजा और इस तीर्थ की स्थापना भगवंत के पहले हुई है।

इसके अलावा श्री जिनप्रभसूरि और सोमधर्म गणिजी के वृत्तांत से लावण्यसमय के छंद में जो भेद है वह केवल शाब्दिक और वर्णनात्मक ही है। मुख्य घटना और नाम इत्यादि एक है।

श्री भावविजय गणि रचित श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र

श्री लावण्यसमयजी के छंद के बाद श्री तपागच्छाधिपति आचार्य श्री विजयदेव सूरि के शिष्य श्री भावविजय गणि के बनाये हुए संस्कृत श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र का स्थान आता है। (यह संस्कृत स्तोत्र इस पुस्तक के मराठी संस्करण में छपा है।) वर्तमान में जहाँ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा बिराजमान है वह जिनालय श्री भाव-विजयजी के उपदेश से बनाया गया है। आपने पहले के मंदिर में से प्रतिमा को उठाकर वि. सं. १७१५ के चैत्र शुद्ध ६ रविवार को इस मंदिर में अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा स्वतः की है। आज भी पास के मणिभद्र की स्थापनावाले दूसरे तहखाने में (भोयरे में) श्री विजयदेवसूरि की और श्री भावविजयजी की पादुकाएँ हैं। एक पर 'पं. श्री विजयदेवसूरि पादुका' और दूसरी पर 'पं. श्री भावविजयजी गणि पादुका' इस प्रकार के खुदे हुए अक्षर स्पष्ट दिखाई देते हैं। मणिभद्र की स्थापनावाले इस गोख में ही पहले श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति विराजमान थी। वह आसन आज भी विद्यमान है। वहाँ दूसरे मणिभद्र की स्थापना की है। इस स्तोत्र के रचनाकार और प्रतिष्ठाकार दोनों एक ही होने के कारण दूसरा बहुत-सा नया और बाह्य प्रमाणों से पुष्ट होनेवाला विवरण इस स्तोत्र में उपलब्ध है। इसलिए यह स्तोत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपने माता-पिता, गाँव, दीक्षा आदि से लेकर स्तोत्र की रचना हुई तब तक की सारी प्रासंगिक किंतु रसप्रद जानकारी उन्होंने इसमें गूँथी है। इस स्तोत्र का भावार्थ नीचे दिया है।

पं. श्री भावविजय गणि के संस्कृत स्तोत्र का भावार्थ

शांतरसपूर्ण परमानंदस्वरुप परमात्मा को नमस्कार करके मैंने (भावविजयजी ने) स्वयं अनुभव किये हुए चमत्कारों का वर्णन मैं दूसरों के उपकार के लिए करता हूँ। जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के मध्यखंड की शोभास्वरुप सत्यपुर (साचोर) नामक एक सुंदर नगरी थी, जो विविध वनखंडों से सुशोभित थी। उस नगरी में ओसवाल वंश के राजमल्ल नाम के गृहस्थ थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम मूला था। और पुत्र का नाम भानिराम था। एक बार उस नगर में उपशमादि गुणों के भंडार श्रीविजयदेवसूरिजी अपने शिष्य परिवार के साथ पधारे। मेघ को देखकर जैसे मयूर आनंद-विभोर हो उठता है वैसे ही गुरु महाराज के आगमन से आनंदित बने हुए श्रावक-श्राविकावृंद उन्हें वंदन करने के लिए गये। मेघ का पानी पीने के लिए चातक उत्सुक होते हैं, ठीक वैसे ही लोग गुरुदेव के मुख में से बरसते हुए वचनामृत का पान करने के लिए अधीर थे। पू. गुरुदेव ने नय और चतुर्भंगी से युक्त और पाप-विमोचनकारी अमृत भरी मीठी वाणी में धर्मदेशना की वृष्टि की। उनके उपदेशामृत का पान कर मैंने (भानीराम ने) सोल्लास दीक्षा ग्रहण की और गुरुराज ने मेरा नाम भावविजय रखा।

इसके बाद गुरुमहाराज के साथ मारवाड में विचरते हुए आगमसूत्रों का मैंने यथाशक्ति तथा यथारुचि अभ्यास किया। मेरे अभ्यास से संतुष्ट होकर गुरुराज ने मुझे जोधपुर में संघ के समक्ष गणि पदवी प्रदान की। उसके बाद पाटण आबू होकर गुरुमहाराज शिष्य-परिवार के साथ गुजरात में पधारे। रास्ते में गरमी के कारण मुझे आँखों की तकलीफ होने लगी। जैसे तैसे मैं गुरुमहाराज के साथ पाटण पहुँचा। वहाँ के श्रीमंत श्रावक-वर्ग ने बहुत सारी दवाइयाँ की, किंतु आँख की पीडा दूर न हुई। आखिर आँखें जाती रहीं और मैं अंधा बन गया।

नेत्रहीन बनने के कारण सारी दुनिया मेरे लिए अंधकारमय हो गयी थी। इसलिए मैंने श्री विजयदेवसूरि से आँखें फिर प्राप्त करने का उपाय पूछा। करुणानिधि और शास्त्रज्ञ गुरु ने मुझे विधिपूर्वक पद्मावती देवी का महामंत्र दिया और शास्त्रविधानपूर्वक उसकी आराधना करने का आदेश दिया। चातुर्मास पूर्ण होने के बाद एक मुनि को मेरे पास रखकर गुरुदेव अन्यत्र पधारे। मेरी पद्मावती महामंत्र की साधना शुरु थी कि एक दिन पद्मावती देवी

ने प्रत्यक्ष आकर मुझसे कहा–हरिवंश समुद्भूत कच्छप लंछनांकित श्री मुनिसुव्रतस्वामी के शासन में रावण नाम का अति बलवान प्रति वासुदेव हुआ है। एक बार उसने अपने बहनोई खरदूषण को किसी महत्त्व के काम से भेजा। वह पाताललंकावासी था। वह विमान द्वारा यात्रा के लिए निकल पडा। नगर, देश, प्रदेश, जंगल, वन और पर्वतश्रेणियों को लांघकर वह आगे बढ रहा था। रास्ते में भोजन का समय होने से वह विंगोली देश के पास नीचे उतरा। स्नानादि कर उसने पूजा का पात्र हाथ में लिया और अपने रसोइये से जिन–प्रतिमा लाने को कहा। खोज करने पर मालूम हुआ कि प्रतिमा (गृहचैत्य) लाना वह भूल ही गया था। इसलिए भयभीत होकर उसने हाथ जोडकर खरदूषण से कहा, 'हे स्वामिन्, गृह–चैत्य तो मैं पाताललंका में ही भूल आया हूँ।' यह सुनते ही राजा ने शीघ्र ही वालुका, गोबर, मिट्टी इत्यादि साधनों से श्री पार्श्वप्रभु की प्रतिमा बनायी। उसके बाद नमस्कार महामंत्र से उसकी प्रतिष्ठा और पूजा विधान करने के बाद किसी तरह इसि प्रतिमा की आशातना न हो इस विचार से उसने प्रतिमा को एक कुएँ में आदर और सावधानीपूर्वक छोड दिया। कुएँ में कोई एक देव रहता था। उसने उसी क्षण प्रतिमा को अपनी गोद में लिया और उसे वज्र सी कठिन बना दिया। इस घटना के बाद बहुत से वर्षों तक उस कुएँ में बसे हुए देवता ने उस भावी तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा की भक्ति भावना से पूजा आराधना की।

बहुत काल व्यतीत होनेके बाद विदर्भ देश के एलचपूर नगर में श्रीपाल नाम का चंद्रवंशी राजा हुआ। माता–पिता का रखा हुआ उसका नाम श्रीपाल होने पर भी इला याने पृथ्वी का स्वामी होने से और योग्य प्रकार से राज्य करता था–इसलिए लोग उसे इलच राजा कहने लगे।

अचानक एक बार पूर्वकर्मोदय से राजा के शरीर में कुष्ठ जैसे महाभयंकर रोग का प्रादुर्भाव हुआ। उस रोग के कारण राजा बार–बार मूर्छित होने लगा। अनेकविध औषधोपचार करने पर भी रोग न हटा, न राजा को शांति हुई। रोग से पीडित राजा शांति के लिए नगर के बाहर गया। इधर–उधर घूमते–घामते वह तृषातुर हुआ और पानी की खोज में भटकने लगा। खोज करते हुए वह उस इमली के पेड के नीचे आया; जिसके नीचे कुएँ में श्री पार्श्वप्रभु की मूर्ति थी। उस कुएँ के पानी से राजा ने हाथ–पैर तथा मुँह धोया और पानी पीकर वह अपनी छावनी की ओर लौट गया। थका हुआ

राजा जल्दी ही सो गया। रोग की पीडा और चिंता से राजा अक्सर तडप-तडपकर ही रात पूरी करता था। न उसे निद्रा आती थी न चैन। किंतु राजा आज गहरी नींद सोता रहा।

सुबह जब रानी ने राजा के हाथ-पाँव और मुँह को कुष्ठरहित देखा, तो वह राजा से पूछ बैठी, ''स्वामिन्, कल आप कहाँ गये थे ? आपने कहाँ पर हाथ-पाँव, मुँह धोया था कि जिसकी वजह से आपके ये अवयव कुष्ठरहित हो गये ? चलो, आज भी हम वहाँ चलें। वहाँ स्नान करके आप सर्वांग से रोगरहित बन जाएँ।'' राजा ने वैसा ही किया और वह रोगरहित बन गया। आश्चर्यचकित बने हुए राजा-रानी ने अन्न-पानी का त्याग करके देवता की आराधना शुरु की और उससे कहा, इस कुएँ के अधिष्ठायक देवता ! हे क्षेत्रदेव ! आप कोई भी हो, कृपया हमें दर्शन दीजिए। तीन दिन तक आराधना जारी रही। उनकी आराधना और तप से संतुष्ट होकर देवता ने प्रत्यक्ष आकर कहा, ''राजन्, खरदूषण राजा की बनाई हुई प्रतिमा इस कुएँ में है। उस प्रतिमा के स्पर्श से इस कुएँ का जल पवित्र बन गया है और इसी पवित्र जल से तेरा शरीर निरोगी बना है। इससे खुजली, बुखार, शूल तथा कुष्ठ आदि असाध्य रोग नष्ट होते हैं और गूंगे मुखर बनते हैं। लूले-लँगडे चलने लगते हैं। अपस्मार के (मिरगी) रोगवालों को नया जीवन प्राप्त होता है। निर्वीर्य तथा दुर्बल को महावीर्य प्राप्त होता है। निर्धन को धन, स्त्री वंचित को स्त्री, निःसंतान को पुत्र-पौत्र, पदभ्रष्ट को पद, राज्यार्थी को राज्य और विद्यार्थी को विद्या प्राप्त होती है। इस मूर्ति के स्पर्श से वेताल, डाईन और दुष्ट ग्रह भाग जाते हैं। हे राजन् ! सर्व मनोरथों को पूर्ण करनेवाली यह मूर्ति कलियुग में साक्षात् चिंतामणिरत्न है। मैं नागराज धरणेंद्र का सेवक हूँ और उसीकी आज्ञा से यहाँ रहकर भगवान की भक्ति-उपासना करता हूँ।''

इस प्रकार की देववाणी सुनकर राजा का मन भक्ति से सराबोर हो गया और उसने देवता के पास मूर्ति की माँग की। देवता ने कहा, ''राजन् ! धन-धान्य जो कुछ भी तू माँगेगा तुझे मिल जाएगा। किंतु यह मूर्ति तुझे नहीं दूँगा।'' इस तरह देवता ने बहुत समझाया। किंतु मूर्ति मिले बिना उपवास न छोडने की राजाने ठान ली थी। यदि प्राण जाएँ तो भले ही जाएँ किंतु मैं मूर्ति प्राप्त किये बिना वापस नहीं लौटूँगा ऐसा उसने प्रण किया था। इस प्रकार उपवास के सात दिन बीत गये। आखिर उसके दृढनिश्चय और तप से प्रभावित

होकर धरणेंद्र ने प्रत्यक्ष आकर कहा– ''हे राजन् ! क्यों हठ करता है ? इस महाचमत्कारी मूर्ति की पूजा–उपासना तुझसे नहीं हो सकेगी। रोग नाश का तेरा काम सिद्ध हो गया है। अब तू यहाँ से चला जा।'' राजा ने कहा, ''महाराज, मेरा स्वार्थ पूरा हो गया तो क्या हुआ; मैं तो सारी दुनिया के उपकार के लिए ही मूर्ति माँग रहा हूँ। इसलिए कृपया मुझे मूर्ति दे दीजिए। मेरे प्राण भले ही चले जाएँ तो भी मैं मूर्ति लिये बिना नहीं लौटूँगा। मूर्ति देना न देना आपकी इच्छा की बात है किंतु मेरा जी उस मूर्ति में ही समा गया है।''

राजा का दृढनिश्चय देखकर और अपने सहधर्मी को अधिक कष्ट न हो इस विचार से धरणेंद्र ने राजा से कहा, ''राजन् ! मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हूँ। अतः प्राणों से भी प्यारी यह मूर्ति तुझे अवश्य दूँगा। किंतु इस प्रतिमा की आशातना न हो इस बात का खूब खयाल रखना वर्ना मुझे अत्यंत दुःख होगा।'' राजा ने जब यह बात स्वीकार कर ली तब धरणेंद्र ने फिर से कहा, ''राजन् ! सुबह स्नानादि कर इस कुएँ के समीप आना। तत्पश्चात् गन्ने की पालकी बनाकर और उसे कच्चे सूत से बाँधकर कुएँ में उतारना। मैं उसमें मूर्ति रख दूँगा। बादमें उसे बाहर निकालकर गन्ने के बने हुए रथ में प्रतिमा को प्रतिष्ठित करना। रथ में सात दिन के जन्मे हुए बछडे को जोडना, फिर तुम आगे–आगे चलना। रथ तेरे पीछे चला आवेगा। किंतु ख्याल रखना, जाते समय रास्ते में मुडकर पीछे मत देखना। यदि तू मुडकर देखेगा तो प्रतिमा तेरे साथ नहीं चलेगी। वह वहीं रुक जाएगी। यह पंचमकाल होने के कारण मैं अदृश्य रुप से इस मूर्ति में अधिष्ठित रहकर प्रतिमाजी के उपासकों के मनोरथ पूर्ण करुँगा।''

इतना कहकर नागराज धरणेंद्र चले गये। सुबह होते ही राजा ने धरणेंद्र के आदेशानुसार सब किया और मूर्ति ले चल पडा। किंतु बीच राह राजा के मन में शंका उठी कि रथ आ भी रहा है या नहीं ? उसने अधीरता से पीछे मुडकर देखा। उसी क्षण मूर्ति वहीं आकाश में स्थिर हो गयी और रथ आगे निकल गया। वहाँ वटवृक्ष के नीचे मूर्ति को सात हाथ आकाश में अधर (निरालंब) स्थिर देखकर उसे **अंतरिक्ष पार्श्वनाथ** कहने लगे। रास्ते में ही प्रतिमा के स्थिर हो जाने से राजा बहुत दुःखी हो गया और उसने फिर से धरणेंद्र से आकर अनुरोध किया। पर धरणेंद्र ने कहा, 'यह प्रतिमा अब यहीं रहेगी।' राजा ने एक लाख मुद्राएँ (सिक्के) खर्च कर रंगमंडप से सुशोभित

ऐसा एक विशाल चैत्य उसी जगह पर बनवाया। (वह वटवृक्ष और जिन मंदिर बगीचे में आज भी विद्यमान है।) मंदिर को देखकर राजा के मन में मिथ्या अभिमान उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा, इस मंदिर के कारण विश्व में मेरा नाम अजरामर हो जायगा। लेकिन इस मिथ्याभिमान के कारण जब प्रतिमा की प्रतिष्ठा करने के हेतु से राजा ने प्रतिमा को मंदिर में पधारने की विनंती की तब वह निष्फल रहा। राजा के मिथ्याभिमान के कारण प्रतिमा ने मंदिर में आने से इन्कार कर दिया। वह वटवृक्ष के नीचे स्थिर हो गयी। इससे राजा को अति दुःख हुआ। उसने पुनः धरणेंद्र का स्मरण किया पर राजा के झूठे अभिमान के कारण धरणेंद्र भी नहीं आये। दुःखी राजा ने मंत्री से राय पूछी। मंत्री ने विचारपूर्वक कहा, ''राजन्! अब एक ही उपाय है। सर्वशास्त्र विशारद, अनेक राजाओं के वंदनीय और देवता की जिनको सहायता है, ऐसे श्री अभयदेव सूरि नाम के एक आचार्य हैं। गुजरात के महापराक्रमी महाराज कर्णदेव (सिद्धराज जयसिंह के पिता)ने आपको 'मल्लधारी' ऐसी सर्वोच्च उपाधि दी है। आप पिछले ही साल खंभात से संघ के साथ कुलपाकजी तीर्थ (माणिक्य प्रभु) की यात्रा करने के लिए इस तरफ पधारे हैं और आजकल आप देवगिरि (दौलताबाद) में स्थित हैं। यदि वे यहाँ आना मान्य कर लें तो हमारे सारे काम सिद्ध हो जाएँ।''

राजा ने तुरंत ही मंत्रीश्वर को आचार्य के पास भेजा। मंत्री ने विनंती की और आचार्यश्री को लेकर वहाँ आ पहुँचा। अवकाश में निरालंब स्थित प्रतिमा देखकर आचार्यश्री भी आश्चर्यचकित हो उठे। राजा के मुख से सब घटना सुनकर आपने (तीन दिन) अठ्ठम उपवास कर धरणेंद्र को आह्वान किया। धरणेंद्र ने आकर आचार्य से कहा कि यह मंदिर बनवाकर राजा अभिमानी बन गया है। इसलिए राजा के इस मंदिर में मूर्ति प्रवेश नहीं करेगी। किंतु यदि संघ का मंदिर बनवाया जाए तो मूर्ति वहाँ अवश्य प्रवेश करेगी। धरणेंद्र का कथन सुनकर आचार्यश्री ने सबको इकठ्ठा किया और कहा, 'श्रावकगण, जल्दी से जल्द यहाँ एक मंदिर बनवाने की व्यवस्था कीजिए। संघ द्वारा बनवाये गये मंदिर में ही प्रतिमाजी प्रवेश करेंगी।' आचार्यश्री की आज्ञानुसार संघ ने तुरंत ही जिन मंदिर बनवाया। तत्पश्चात् आचार्यश्री द्वारा सतत स्तुति और प्रार्थना करने पर परम प्रभावक अधिष्ठायक देवता ने मूर्ति से संक्रमण किया और तब कहीं श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति ने सब लोगों के सामने आकाश से उतरकर श्रावकों द्वारा निर्मित चैत्य में स्वयं प्रवेश

किया। वहाँ भी प्रतिमाजी भूमि से सात अंगुल अधर आकाश में रही और वि.सं. ११४२ के माघ शुक्ल ५ रविवार के दिन विजय मुहूर्त में आचार्यश्री ने उक्त प्रतिमाजी की विधिपूर्वक प्रतिष्ठापना की। तीर्थरक्षा के हेतु आपने प्रतिमाजी के बायीं तरफ शासनदेवी की भी स्थापना करवायी।

इस प्रतिष्ठा महोत्सव के वक्त इचलराजा ने भगवान के मस्तक पर अनेक रत्नों से सुशोभित मुकुट चढाया। कान में बढिया कुंडल, भाल में हीरे का तिलक, कंठ में हीरे का हार और शरीर पर सोने की आंगी एकांकी चढायी। साथ ही अमृत वर्षानेवाले चक्षु और पीछे तेजोमय भामंडल की स्थापना कर मस्तक पर श्वेत छत्र चढाकर राजा ने संघपति की पदवी स्वयं धारण की। गुरु ने आशीर्वाद रुपी वासक्षेप से राजा के मस्तक पर अभिषेक किया। राजा ने अज्ञानांधकार को दूर करनेवाली आरती उतारी। इसके बाद राजा ने वहाँ नगर बसाया। श्रीमान (प्रभु) का वहाँ वास होने के कारण उस नगर का नाम श्रीपुर रखा गया। जिस कुएँ से प्रतिमाजी निकली थी उस कुएँ पर राजा ने एक कुंड बनवाया ताकि उस पवित्र पानी से प्राणिमात्र का उपकार होता रहे। राजा की विनंति के कारण आचार्यश्री ने वहाँ चातुर्मास किया और बाद में अन्य जनों को उपदेश देते हुए वहाँ से आपने अन्यत्र प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्री अंतरिक्षजी का संपूर्ण इतिहास कहने के बाद पद्मावतीदेवी ने भावविजय से कहा, ''इसलिए हे भावविजय ! तुम भी इसी अंतरिक्ष पार्श्व के शरण में जाओ ताकि खोई हुई आँख तुम्हें फिर से प्राप्त हो सकें।''

श्री भावविजयजी गणि श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र में आगे कहते हैं कि इस प्रकार की पद्मावतीदेवी की वाणी सुनकर मैंने भावविजयजी की यह घटना अपने गुरुबंधु तथा अन्य श्रावकों से कही और साथ में श्रावकों का संघ लेकर मैं विहार करते-करते श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की शरण पहुँचा। संघ में आये हरेक को प्रभु के दर्शन हुए किंतु मुझे मद भागियों को भगवान के दर्शन नहीं हुए। इससे उदास बनकर मैंने अन्न-जल का परित्याग कर दिया और दर्शन की अभिलाषा से अनेक प्रकार से प्रभु की स्तुति की।

''हे जिनेन्द्र भगवान ! अपकारियों पर भी उपकार करनेवाले, कलियुग के जागृत देव, इच्छित फल देनेवाले परमात्मा ! तुम्हें नमस्कार हो। हे नाथ !

आपने निःस्वार्थ से अग्नि में जलते हुए नाग का (धरणेंद्र) उद्धार किया है। आपने अति निष्ठुर और आपके प्रति वैर रखनेवाले कमठ को भी सम्यक्त्व दिया है। करुणा रस भंडार हे स्वामी ! चिरकाल तक आपकी सेवा करनेवाले आषाढाभूति श्रावक को आपने मोक्ष प्रदान किया। भक्ति से आलिंगन करनेवाले हाथी को आपने स्वर्ग में बैठा दिया और इसी लिए आप **कलिकुंड** के नाम से सारे जहाँ में मशहूर हैं। नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि का कुष्ठरोग दूर कर आपने उन्हें सुवर्ण कांतिवाला शरीर दिया। पालनपुर के परमार वंशीय राजा पालण ने आपके चरणकमलों की सेवा कर अपना खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त किया। उद्देशी सेठ के घर आपने घी की वृद्धि कर दी। अतः हे नाथ, आपको **घृतकल्लोल पार्श्वनाथ** भी कहते हैं। फल की वृद्धि करते हैं इस लिए आप **फलवृद्धि पार्श्वनाथ** के नाम से भी जगप्रसिद्ध हैं।

हे नाथ ! आपने एलचपुर के राजा का शरीर दाह नष्ट किया। आकाश में निरालंब और खुली जगह में रहने की आपकी इच्छा थी। परंतु मल्लधारी श्री अभयदेवसूरि की स्तुति से संतुष्ट होकर आप इस चैत्य में आ बसे हैं। हे अनंत वर्णनीय गुणोंवाले भगवान्, आपका भला मैं पामर और क्या कैसे वर्णन करुँ ? सहस्त्र जिव्हावाला भी आपका गुण वर्णन करते हुए थक जाएगा तो मेरी क्या बिसात ! हे नाथ ! जब ऐसे-ऐसे चमत्कार आपने दुनिया में बताये हैं तो क्या मेरे नेत्रों को ज्योति प्रदान करना क्या आपके लिए कठिन है ? हे तात ! हे स्वामिन् ! हे वामाकुलनंदन ! हे अश्वसेन वंश दीपक ! प्रत्यक्ष दर्शन दो प्रभु ! यदि आप मेरे माता-पिता सर्वस्व होकर मुझे इष्ट वस्तु नहीं देंगे तो दूसरा कौन देगा ? इस लिए हे तात ! मुझे नेत्र-दीपक दीजिए।''

इन अंतिम उद्गारों के साथ मेरी आँखें खुल गयीं और लोगों की जयजयकार के साथ मैंने तीन जगत के नाथ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के दर्शन पाये। जैसे मेघ चले जाने के बाद लोग सूर्य को स्पष्ट देखते हैं वैसे मैंने सब चराचर वस्तुओं को स्पष्ट देखा और मेरे मुँह से सहसा उद्गार निकल पडे, ''हे नाथ ! लोहे के सुवर्ण बनानेवाले आप सचमुच ही पारस हैं। इस लिए आपके माता पिता ने आपका सही नाम पारस रखा है।'' इसके बाद मैंने उपवास का पारणा किया। और बार बार हर्षित मन से तथा विकसित नयनों से पार्श्वप्रभु का दर्शनामृत पान किया।

उसी रात को मैंने एक स्वप्न देखा। एक देवता ने आकर मुझ से

कहा, ''हे वत्स ! यह मंदिर छोटा है। इस लिए उसे बडा बनाओ।'' सुबह उठकर मैंने श्रावकों को उपदेश किया। धन इकठ्ठा करवाया और भव्य मंदिर बनवाना शुरु कर दिया। मंदिर पूरा बन जाए तब तक मैंने वहीं ठहरने का निश्चय किया। एक वर्ष में मंदिर पूरा हो गया। वि.सं. १७१५ के चैत्र सुद ६ रविवार के दिन श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रभु की मंदिर में प्रतिष्ठा करवायी। उस मंदिर में भी मूर्ति ने भूमिस्पर्श नहीं किया। वह पूर्ववत् निरालंब अधर रही। इस महाप्रभावी मूर्ति की स्थापना कर मैंने बोधिबीज स्वरुप सम्यक्त्व प्राप्त किया और मैं कृतकृत्य बना। उसी मंदिर में मेरे गुरु श्री विजयदेवसूरिजी की पादुकाओं की भी स्थापना करवायी। फिर कुछ दिन प्रभु की भक्ति करता हुआ मैं वहीं रहा। जब वहाँ से लौटने का समय आया तो मैंने प्रभु से फिर जल्द ही दर्शन देने की प्रार्थना की और रास्ते में हर स्थान पर इस तीर्थ की महिमा गाता हुआ मैं दूर निकल गया। इस प्रकार जो कोई भी व्यक्ति श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की शरण में पहुँचेगा उसके मनोरथ पूर्ण होंगे।

ग्रंथकार की प्रशस्ति :- श्री हीरसूरिमहाराज ने अकबर बादशाह से सात तीर्थ के ताम्रपट लिखवाकर 'यावच्चंद्रदिवाकरौ' कीर्ति प्राप्त की। उनके शिष्य श्री विजयसेन सूरि ने जहाँगीर बादशाह को उपदेश दिया और प्रतिपदा, रविवार और गुरुवार के दिन जीवदया का व्रत पालने का उससे वचन लिया। उनके शिष्य हुए श्री विजयदेवसूरि, जिन्होंने अपने गुरु के समान ही कार्य करके मुसलमानादि जातियों में दया धर्म की प्रतिष्ठापना की, उनके बडे शिष्य थे आचार्य श्री विजयप्रभसूरि। वे अपने गुरु की कीर्तिलता बढानेवाले और उनके गुणों के धारक ही थे। मैं श्री विजयदेवसूरि का छोटा शिष्य भावविजय गणि हूँ। श्री विजयप्रभसूरि के काल में (निश्रा में) मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। वि.सं. १७१५ में भव्य जीवों के उपकार के लिये श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान की कृपारुप इस तरह मैंने स्वचरित्र की रचना की है। इति श्री भावविजय गणि विरचित स्वचरित्र संपूर्ण।

पं. भावविजय गणि के स्तोत्र में वर्णित अन्यान्य प्रभावी श्री पार्श्वनाथ भगवंत के तीर्थ

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ :- आषाढाभूति ने अतीत चौबीसी के नौवें तीर्थंकर श्री दामोदर स्वामी के मुख से सुना था कि आगामी चौबीसी में श्री पार्श्वनाथ भगवंत तुम्हारा उद्धार करेंगे। यह सुनकर उन्होंने श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ

की प्रतिमा बनवायी थी। आषाढाभूति श्री पार्श्वनाथ भगवंत के शासन में ही मोक्ष में गये हैं।

श्री कलिकुंड पार्श्वनाथ :- अंगदेश की चंपा नगरी में करकंडु राजा का शासन था। नगर के पास कादंबरी नामक अटवी थी। उसमें कलि नाम का पर्वत था। वहाँ कुंड नामक एक सरोवर था। श्री पार्श्वप्रभु विहार करते हुए वहाँ पहुँचे। उसी समय एक हाथी वहाँ आया। भगवंत के दर्शन से उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्व भव में वह एक वामन (बौना) ब्राह्मण था। लोग उसे चिढाते और सताते रहते थे। वह जीवन से तंग आ गया और आत्महत्या करने चला किंतु एक श्रावक ने उसे रोका और धर्मोपदेश दिया। ब्राह्मण ने मरते वक्त बडा शरीर मिले ऐसा निदान किया। इस प्रकार खुद का पूर्वभव हाथी ने देखा। बाद में वह नजद़ीक के तालाब से कमल ले आया और उसने भगवान की सोल्लास पूजा की। अपनी सूंड से भगवान का आलिंगन करने के बाद तुरंत ही उसने अनशन की। मृत्यु के बाद वह हाथी महर्द्धिक व्यंतर बना। प्रातःकाल होते ही करकंडु राजाने यह घटना जानी और वह वहाँ आ पहुँचा। किंतु भगवान वहाँ से विहार कर आगे चले गये थे। धरणेंद्र के प्रभाव से वहाँ नौ हाथ की पार्श्वनाथ भगवंत की मूर्ति प्रकट हुई। वहाँ जिनालय बनवाकर राजा ने उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी। (किसीका कहना है कि राजा ने ही मंदिर और प्रतिमा बनवाई थी।) हाथी (महर्द्धिक देव) ने उस प्रतिमा की भक्ति की और महिमा का खूब विस्तार किया। तबसे वह **कलिकुंड तीर्थ** बन गया।

श्री स्तंभन पार्श्वनाथ :- ठाणांग, समवायांग, भगवती सूत्र, ज्ञाताधर्म कथा, उपासक दशांग, अंतगढ दशांग, अनुत्तरोपपातिक दशांग, प्रश्न व्याकरण और विपाकसूत्र इन नौ अंगों के टीकाकार श्री अभयदेव सूरि विक्रम की बारहवीं शताब्दि में हुए थे। आप कुष्ठ-रोग से पीडित थे। जब रोग अधिकाधिक फैलने लगा तब आपने अनशन करने का विचार किया। किंतु शासन देवी ने आकर आपसे कहा कि सेठी नदी स्तंभनपुर (खंभात) के नजद़ीक एक वृक्ष के नीचे स्तंभन पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है, उस प्रतिमा के दर्शन से कुष्ठ रोग अच्छा हो जाएगा और तुम नवांग के टीकाकार बनोगे। यह सुनकर आचार्य खंभात पहुँचे और आपने 'जय तिहुयण' स्तोत्र की रचना की। इससे वहाँ मूर्ति प्रकट हुई और आचार्य का कुष्ठ-रोग नष्ट हुआ। बाद में

आपने ठाणांगादि नवांगों की टीका लिखी। आज भी खंभात में **स्तंभन पार्श्वनाथ** तीर्थ विद्यमान है।

श्री पल्लविया पार्श्वनाथ :- आबू के परमारवंशीय राजाने सुवर्ण की पल्लविया पार्श्वनाथ की मूर्ति गलाकर उसके पलंग के पाँव बनवाये। इस पाप से वह कोढी बन गया। रिश्तेदारों ने उसका राज्य छीन लिया। राज्यभ्रष्ट बना हुआ वह राजा जहाँ-तहाँ भटकने लगा। एक बार आचार्य महाराज के उपदेश से उसने फिर से पार्श्व प्रभु की सुवर्ण-प्रतिमा बनवायी और प्रल्हादनपूर (पालनपुर) बसाकर उसमें सुंदर मंदिर बनवाया और वहाँ प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की। उक्त प्रतिमा के प्रभाव से उसका कुष्ठरोग दूर हुआ और गया हुआ राज्य पुनः फिर से प्राप्त हुआ। आगे चलकर मुसलमानों के अत्याचारों से बचने के लिए वह सुवर्ण मूर्ति किसी गुप्त स्थान पर रख दी गयी और उसकी जगह पाषाण की मूर्ति बिठाई गयी जो आज भी विद्यमान है।

श्री घृतकल्लोल पार्श्वनाथ :- कच्छ के सुथरी गाँव में यह तीर्थ है। गाँव में रहनेवाले उद्देशी नाम के एक बनिये ने एक दिन एक स्वप्न देखा। स्वप्न में देवता के कहेनुसार उसने गाँव के बाहर मिले एक मनुष्य के साथ अपनी गठरी बदल दी। घर आकर उसने गठरी खोली तो उसमें से पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा निकली। श्रावक गरीब था इस लिए गाँव में रहनेवाले एक यति और संघ की मदद से उसने एक देहरी बनवायी और उसमें प्रतिमाजी की प्रतिष्ठापना की। उस महोत्सव के समय संघ ने स्वामिवात्सल्य किया। उक्त अवसर पर हंडिया में से इतना घी निकलने लगा कि लोगों ने दाँतो तले ऊँगली दबायी। हंडिया में जब हाथ डालकर देखा तो उद्देशी बनिये की वही पार्श्वनाथ की मूर्ति उसमें मिली। इसके बाद प्रतिमा को बाहर निकाला गया। महोत्सवपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी। उस दिन से वह स्थान घृतकल्लोल पार्श्वनाथ तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

श्री फलवृद्धि पार्श्वनाथ :- मारवाड के मेडता नगर के पास फलोदी नामक एक गाँव है। वहाँ का खारस नामक एक श्रावक एक दिन गाँव के बाहर कहीं गया था। निरुद्देश्य भटकते हुए उसे मिट्टी के एक ढेर में से भगवान पार्श्वनाथ की एक मूर्ति मिली। घर आने के बाद उसने उस मूर्ति को एक कुटिया में रखा। दूसरे दिन देवता ने आकर उसे कहा कि हररोज तुझे भगवान के आगे सुवर्ण के तंदुल मिलेंगे। उस सुवर्ण से मंदिर बँधवाकर उसमें

भगवान की प्रतिष्ठापना करवाना किंतु भूलकर भी कभी उन सुवर्ण तंदुल की बात किसीसे न कहना। फिर तो सुवर्ण तंदुल मिलते गये और श्रावक मंदिर बनाता गया। मंदिर का एक भाग तैयार हो गया किंतु एक दिन अपने पुत्र के अति आग्रहवश उसने सुवर्ण तंदुल की घटना उसे कह सुनायी। फिर क्या, दूसरे दिन से तंदुल मिलने बंद हो गये। इसके बाद सं. १२०४ में श्री वादिदेवसूरि के हाथों से इस मंदिर की प्रतिष्ठा करवायी गयी। इस प्रतिमा के अधिष्ठायक के प्रभाव से पुत्र और ऋद्धि प्राप्त होने के कारण इसे फलवृद्धि पार्श्वनाथ कहा जाता है और भी अन्यान्य स्थानों के प्रभाविक पार्श्वनाथ के वर्णन श्री मणिलाल नवाब के ग्रंथ से मिल सकते हैं।

पं. श्री भावविजयगणिकृत श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र का सार

श्री भावविजयगणि रचित उपर्युक्त चरित्र की और पद्मावतीदेवी वर्णित इतिहास की विचारणा करने से निम्न बातें खयाल में आती है।

पद्मावतीदेवी के कथन में पूर्व की अपेक्षा अनेक महत्त्व की और विशेष बातें निर्देशन में आयी हैं। वे ऐसी हैं कि जो बाह्य प्रमाणों से मिलती-जुलती हैं। श्री जिनप्रभसूरि और श्रीसोमधर्मगणि ने रावण के सेवक मालि सुमालि का उल्लेख किया है। किंतु वास्तव में यह बात ठीक नहीं क्योंकि कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्रसूरि प्रणित त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र के ७वें पर्व के पहले सर्ग में कहा गया है कि सुमालि रावण के पिता रत्नश्रवा का पिता था। और मालि बडा भाई। ऐसी स्थिति में पितामह अपने पौत्र रावण का सेवक हो, यह बात गले नहीं उतरती। त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र के अनुसार मालि की मृत्यु रावण के जन्म से पहले ही हो गयी थी। इस लिए मालि-सुमालि की कथा सुसंगत नहीं लगती। किंतु पद्मावतीदेवी के कथन में खर-दूषण का पाताललंका का स्वामी होना सुसंगत है। (यद्यपि खर और दूषण तथा मालि और सुमालि इन दो भाइयों की अलग-अलग जोडियाँ हैं। किंतु एक के लिए दोनों का नाम लेने का रिवाज-सा हो गया था। त्रिषष्ठिशलाका चरित्र के अनुसार रावण ने खर से अपनी बहन शूर्पणखा का (चंद्रणखा) विवाह किया था और उसे पाताललंका का राज्य दिया था। भौगोलिक वर्णनानुसार पाताललंका किष्किंधा नगर के पास (प्रायः उत्तर में) मद्रास के पास होगी ऐसा संभव है। लंका के समान वह सिंहलद्वीप में होने की संभावना कतई नहीं।

पद्मावतीदेवी के कथन में खर-दूषण विंगोली आये थे ऐसा जो निर्देश है वह विंगोली आज भी विद्यमान है। और आज-कल उसकी आबादी बीस हजार की है।

एलचपुर के एलच (श्रीपाल) नामक चंद्रवंशीय राजा का जो उल्लेख आता है उसकी भी पुष्टि मिलती है। एलचपुर अमरावती के वायव्य में ३० मील और अकोला से ईशान्य में लगभग ५० मील दूर है तथा वह अंतरिक्षजी (शिरपुर) से प्रायः ९५ मील है। आज भी उसकी आबादी लगभग चालीस हजार की है। ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि एलचपुर अंग्रेजो के राज्य में आने तक विदर्भ (वराड) की राजधानी थी। पिछले हजार वर्ष का वैदर्भीय इतिहास और एलचपुर दोनों का सम्बन्ध परस्पर संकलित है। श्री अंतरिक्षजी (शिरपुर) भी विदर्भ (वराड में है। इसलिए एलचपुर का राजा शांति के लिए वहाँ गया हो यह युक्तिसंगत ही है। इस देश के जैनेतर इतिहासकार भी प्राचीन साहित्य के आधार पर लिखते है कि ईलराजा सं. १११५ में एलिचपुर की गद्दी पर बैठा। वह चुस्त जैनी था। जैन धर्म का प्रचार उसने बहुत ही लगन से किया। यह ईल और हमारा ईलच दोनों एक ही व्यक्ति है। यहाँ के दिगंबर जैनी भी ईल राजा को ही श्री अंतरिक्षजी का स्थापक मानते हैं। इन दो प्रमाणों से पद्मावतीदेवी का 'सं. ११४२ में एलच (श्रीपाल) राजा ने अंतरिक्षजी की प्रतिष्ठा करवायी' यह कथन सत्य होता है क्योंकि सं. १११५ में गद्दीनशीन राजा सं. ११४२ में प्रतिष्ठा करावे यह सर्व दृष्टि से संभवित है। 'तवारिखी ई अमजदी' नामक फारसी ग्रंथ के मुसलमान लेखक ने ऐसी कल्पना की है कि, ईल राजा के नाम से एलिचपुर नाम प्रचलित हुआ है। ईल याने राजा (ईल+ईश-इलेश) याने ईल राजा। इलेशपुर का कालक्रम से एलिचपुर हुआ ऐसा वहाँ के स्थानिक लोगों का तर्क है। किंतु शोध-खोज से यह निर्णित हुआ है कि एलिचपुर का असल नाम अचलपुर ही था। अचलपुर का आगे चलकर अलचपुर और बाद में एलिचपुर हुआ है। इस अचलपुर की गद्दी पर सं. १११५ में ईलराजा आया।

विदर्भ (वराड) में रहनेवाले क्षत्रिय राजा भोजकुल के होने के कारण वे चंद्रवंशीय ही थे। ऐसा इतिहासकारों का कहना है। इससे श्री भावविजयजी गणि की सब बातें सही सिद्ध होती हैं।

पद्मावतीदेवी ने भावविजयजी से कहा कि श्रीपाल राजा श्री अंतरिक्ष

पार्श्वनाथ भगवान को स्थापित कर अपने घर ले जाते समय एक वटवृक्ष के नीचे आया। यह वटवृक्ष आज भी बगीचे में विद्यमान है। वहाँ मुडकर देखने से प्रतिमा वहीं निरालंब खडी रही। बाद में राजा ने वहाँ मंदिर बनवाया। किंतु जिनालय के साथ मेरा नाम भी अमर बनेगा इस प्रकार के राजा के अभिमान के कारण प्रतिमाजी ने उस मंदिर में प्रवेश नहीं किया। यह सारी जानकारी मिलती-जुलती ही है। शिरपुर नगर के नजद़ीक के बगीचे में वह कलापूर्ण और विशाल मंदिर है। उसके पास ही बडा बरगद का पेड है। शिरपुर के लोग कहते हैं कि इस पेड के नीचे प्रतिमाजी निरालंब-अधर स्थिर रही थी। इस प्रतिमा की स्थापना के लिए राजा ने यह सुंदर मंदिर बनवाया था किंतु राजा के मिथ्या अभिमान के कारण भगवान वहाँ नहीं गये। यही वजह है कि आज भी वह मंदिर खाली पडा है। यह दूसरी बात भी पद्मावतीदेवी के कथन से मिलती है। बहुत-से यूरोपियन अधिकारियों ने विदर्भ (वराड) का प्रवास किया और विदर्भ में देखे अनुपम शिल्प के बारे में बहुत कुछ लिखा है, वैसे ही विदर्भ (वराड) के इतिहासकारों ने भी विदर्भ (वराड) के शिल्प का वर्णन किया है। उन सबने विदर्भ (वराड)के सुंदरतम और प्राचीनतम शिल्पस्थापत्यों में इस मंदिर की गणना की है। साथ ही साथ शिल्पशास्त्र के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर वे लोग अनुमान निकालते है कि शिरपुर का यह मंदिर लगभग एक हजार वर्ष पुराना होने की संभावना है।

पद्मावतीदेवी के कथनानुसार सं. ११४२ में राजा ने यह मंदिर बनवाया था, इस कथन को शिल्प-शास्त्रियों के स्वतंत्र अनुमान से पुष्टि मिलती है। बहुत-से यात्री इस मंदिर के बारे में कुछ नहीं जानते। इसलिए वे आज जहाँ श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रभु बिराजते हैं वहाँ का दर्शन कर चले जाते हैं किंतु हरेक यात्रिक को चाहिए कि वह इस प्राचीन मंदिर का भी दर्शन अवश्य करें।

गुर्जर देश के कर्णदेव राजा ने जिनको 'मल्लधारी' उपाधि दी है और देवी की जिन्हें सहायता है ऐसे सर्वशास्त्र-विशारद श्री अभयदेवसूरि खंभात से संघ लेकर और आप कुलपाकजी तीर्थ की यात्रा के लिए निकले थे और रास्ते में आप देवगिरि (दौलताबाद) में रहनेवाले श्रीपालराजा की प्रार्थना से आप देवगिरि से शिरपुर पधारे। उनके मंत्रादि के प्रभाव से प्रतिमाजी ने आकाश से

उतरकर (खुद चलकर) संघ द्वारा निर्मित मंदिर में प्रवेश किया। पद्मावतीदेवी के इस कथन को भी बाह्य प्रमाणों से दृढता मिलती है। विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति इत्यादि ग्रंथों के कर्ता तथा सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में (अणहिलपुर पाटण) विद्वान श्रेष्ठ माने जानेवाले सुप्रसिद्ध आचार्यप्रवर श्री मल्लधारी श्री हेमचंद्रसूरि के गुरु थे। श्री हेमचंद्राचार्य के ग्रंथों की जैन-जैनेतर परंपरा में अक्सर प्रशंसा होती आयी है। उन्होंने अपने ग्रंथों की प्रशस्ति में अपने गुरु श्री अभयदेवसूरि का वर्णन किया है। साथ ही उनके बाद मल्लधारी श्री राजशेखरसूरिजी (सं.१३८७) की प्राकृतद्रव्याश्रय वृत्ति में तथा अन्य ग्रंथों में जो वर्णन है, उससे मालूम होता है कि श्री अभयदेवसूरिजी एक महान शासन के प्रभावक थे। उनका तीव्र मलपरिषह प्रतिलक्षित कर गुजरात के प्रभावक श्रमण भक्त धुरंधर राजा कर्णदेव द्वारा उन्हें मल्लधारी की उपाधि देने का उल्लेख बहुत-से प्राचीन ग्रंथों में है। (श्री गुर्जरेश्वरो दृष्ट्वा तीव्रं मलपरिषहं मल्लधारी श्रीकर्णो बिरुदं यस्य न्यघोषत्।) वे सिद्धराज जयसिंह के पिता थे और उनका समय विक्रम की बारहवीं सदी का पूर्वार्ध है। सं. ११४२ में मल्लधारी श्री अभयदेवसूरि के हाथों से प्रतिष्ठा कार्य संपन्न हुआ था। ये दोनों बातें परस्पर पोषक ही हैं। पद्मावतीजी ने 'वि.सं. ११४२ में माघ सुद ५ रविवार के दिन श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की अभयदेवसूरि के हाथों से प्रतिष्ठापना हुई' (ज्योतिष गणितानुसार वि.सं. ११४२ माघ सुद ५ को रविवार आता है।) ऐसा विधान किया है।

श्री अभयदेवसूरि ने श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की बायीं ओर अधिष्ठायक शासन देवता की स्थापना की थी। इस बात का पद्मावतीदेवी ने निर्देश किया था। यह बात भी प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है। आज-कल जिस मंदिर में श्री अंतरिक्ष प्रभु विराजमान हैं उसी मंदिर में एक दूसरा छोटा तहखाना है। उसमें एक पीठिका है। कहा जाता है कि पहले श्री अंतरिक्ष पार्श्व प्रभु इसी पीठिका पर विराजमान थे। इसी पीठिका के ठीक बायीं ओर अधिष्ठायक देवता विराजमान हैं जिन्हें आज-कल लोग मणिभद्र कहते हैं। अंतरिक्ष भगवान का पहला स्थान पश्चिमाभिमुख था, किंतु वर्तमान स्थान पूर्वाभिमुख है। पहले स्थान पर भी आजकल एक मणिभद्र की मूर्ति है। शायद उसकी स्थापना श्री अंतरिक्ष प्रभु को वर्तमान स्थान पर स्थापित करने के बाद हुई होगी ऐसा अनुमान है।

पुराना मंदिर छोटा होने के कारण देवता की सूचना से श्री भावविजयजी ने श्रावकों को उपदेश दिया और नया मंदिर बनवाया। यह बात भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सही सिद्ध होती है क्योंकि उपरिनिर्दिष्ट तहखाना इतना छोटा है कि वहाँ कठिनाई से दस आदमी बैठ सकते हैं। ये दोनों तहखाने एक ही मंदिर में हैं और एक में से दूसरें में जाने के लिए रास्ता है।

जब भावविजयजी ने नये मंदिर में भगवान की प्रतिष्ठापना करवायी तब प्रतिमाजी एक अँगुल आकाश में अधर रही थी, यह बात भी ठीक जँचती है क्योंकि आज भी भगवान बराबर एक अँगुल निरालंब है।

भावविजय गणि ने भगवान की पूर्वाभिमुख स्थापना करवायी। यह कथन भी ठीक है क्योंकि वर्तमान समय में प्रतिमाजी पूर्वाभिमुख ही है। भावविजयजी ने अपने गुरु के चरणों की प्रतिष्ठा करवायी थी। वे चरण आज मणिभद्र के तहखाने में विद्यमान हैं।

आज भी श्री अंतरिक्ष प्रभु का अपूर्व अद्‌भुत प्रभाव बहुत ही तेजस्वी है। इस लिए भावविजय के नयन पुनः प्राप्त करने की बात असंभव नहीं लगती।

इस प्रकार प्रायः सभी बातें बाह्याभ्यंतर प्रमाणों से सिद्ध होने के कारण अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान के इतिहास में श्री भावविजय गणि के स्तोत्र का स्थान बहुत ऊँचाऔर महत्त्वपूर्ण है।

श्री भावविजय गणि ने गुजराती में भी पचास गाथावाला एक 'श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र' लिखा है। उसमें केवल भगवान की स्तुति और महिमा का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें कुछ नहीं मिलता।

तीर्थ-माला

सं. १७४६ में श्री शिवविजय के शिष्य मुनि श्री शीलविजयजी ने पूर्व; पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं में प्रवास करके यह तीर्थ-माला बनायी है। जब वे सं. १७२१ से १७३८ तक दक्षिण देश में घूम रहे थे तब उन्होंने यह तीर्थ-माला लिखी थी। नर्मदा पार करके मांधाता, खंडवा, बुह्राणपुर तथा मलकापुर होकर देवल घाट पार करके विदर्भ में प्रवेश किया और उन्होंने श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ प्रभु की यात्रा की। तीर्थमाला की तीसरी ढाल की १४ से

१९ तक की गाथाओं में उन्होंने बहुत ही संक्षेप में श्री अंतरिक्षजी का वर्णन किया है जिसमें रावण के बहनोई खर-दूषण और एलगराय के नाम हैं। साथ ही पहली प्रतिमा के नीचे से एकाध घुडस्वार आसानी से निकल सकता था, किन्तु आजकल सिर्फ डोरा ही निकलता है। ये बातें भी उसमें उल्लिखित की गयी हैं।

श्री विनयराज का स्तवन

श्री ललितचंद्रजी के शिष्य श्री विनयराज ने सं. १७३८ में एक स्तवन की रचना की है। उसमें भी खर-दूषण और एलिचपुर के राजा की संक्षिप्त कथा है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें कुछ भी सामग्री नहीं मिलती

श्री जिनचंद्रसूरि का स्तवन

श्री जिनचंद्रसूरीश्वरजी सिद्धपुर (गुजरात) से लेकर सं. १८५५ के फाल्गुन वद १२ के दिन आये थे। उन्होंने गुजराती में ९ गाथा का स्तवन बनाया है। उसमें श्री बहुतायत मे अंतरिक्षजी का संक्षिप्त इतिहास है। विशेष कुछ नहीं है। इसके सिवा श्री अंतरिक्षजी भगवान का केवल नामोल्लेख प्राचीन और अर्वाचीन स्तवनों में मिलता है।

प्राचीन जैनेतर साहित्य में श्री अंतरिक्षजी का निर्देश

जैनेतर साहित्य में श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का उल्लेख देखकर किसका हृदय फूला नहीं समाएगा ? ६५० वर्ष पहले के जैनेतर साहित्य में भी श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का उल्लेख है। महाराष्ट्र और विदर्भ में 'महानुभावपंथ' नाम का एक हिंदु संप्रदाय है। इस संप्रदाय का सारा साहित्य प्रायः मराठी में है। प्राचीन गुजराती भाषा के साहित्य का सारा खजाना जैसे जैनियों के पास है, वैसे ही मराठी साहित्य का भंडार महानुभाव पंथियों के पास सुरक्षित है। विक्रम की चौदहवीं सदी में इस संप्रदाय के धर्मगुरुओं में हुए एक परिसंवाद का विवरण यवतमाल विदर्भ की 'सरस्वती प्रकाशन' नामक संस्था की ओर से ई.स. १९३९ में प्रकाशित महानुभाव पंथ के 'स्मृति स्थल' ग्रंथ के वृद्धाचार विभाग की १६वीं कंडिका में इस प्रकार उल्लिखित है :-

कविश्वरां हरगर्वभटा उद्ग्रहणिक कवीश्वरीं आनोबास प्रकाशणें -

हरगर्व ते विद्वांस एक म्हणति राक्षस भुवनिचे एक दिसते कविस्वरासी

भेटले थोरि उघानि केली. परि बोधुभेद अवभेद नर्योच ते वाराणसि जात होते. हरगवींद म्हणितले–आतांचि येवेळे चर्चा असों देवो. मग मागुतें तुमचें दर्शन घेऊनि कवीस्वरयासी म्हणितलें– 'हो कां जाल पारिसनाथाचे या श्रीपुरावरुनि जा तेथें आमुचे गुरुभाउ आनोबा असति तयांसी भेटावे, मग सामोरे जावें ? तेव्हेळी ते श्रीपुरासी आले–आनोबासी भेट झाली ॥ १६ ॥

– स्मृतिस्थळ वृद्धाचार पृष्ठ १६

कवीश्वर और हरगर्व भट्ट के बाद विवाद में आनोबा का निर्देश है। हरगर्व भट्ट विद्वान थे। ऐसी भी एक किंवदंती है कि वे राक्षसभुवन के निवासी थे। एक दिन आप कवीश्वर से मिले। आपस में कुछ चर्चा भी हुई किंतु कवीश्वर व्यास की बात हरगर्व को जँची नहीं। हरगर्व काशी की तरफ चल पडे। चलते समय उन्होंने कहा 'आज की बात रहने दीजिए, काशी से लौटने के बाद आपसे फिर मिलूँगा।' कवीश्वर ने कहा 'ठीक है। किंतु जाते समय पारसनाथ श्रीपुर होकर जाना। वहाँ हमारे गुरुभाई आनोबा हैं उनसे मिलकर आगे बढना। फलतः हरगर्व पंडित श्रीपुर (शिरपुर) आये। वहाँ उनकी आनोबा से भेट हुई। इसके बाद वृद्धाचार के १६वें परिच्छेद में आनोबा और हरगर्व का वाद-विवाद और आनोबा की युक्तियों से हरगर्व काशी जाने के विचार का परित्याग करना तथा आनोबा के साथ में आष्टी में कवीश्वर के पास पहुँचना वहाँ हरगर्व द्वारा आनोबा का शिष्यत्व स्वीकारना आदि वर्णन मिलता है। महानुभाव पंथ के साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आनोबा और हरगर्व (हयग्रीव, हिरण्यगर्भ, हरबा) वि.सं. की १४वीं सदी में विद्यमान थे। हरगर्व वि.सं. १३६६ में आनोबा उर्फ गोपाल पंडित के शिष्य बने इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त वाद-विवाद और संवाद वि.सं. १३६६ में हुआ था।

जैनेतर साहित्य के इन प्राचीन निर्देशों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की मूर्ति के प्रभाव की प्रसिद्धि केवल जैनियों में ही नहीं बल्कि जैनेतरों में सैकडों वर्षों से फैली हुई है। शिरपुर से हजारों मील दूर बसे हुए जैनेतरों में यह तीर्थ पार्श्वनाथ शिरपुर के नाम से प्रसिद्ध था और मूर्ति के चमत्कार तथा प्रभाव के बारे में तो कहना ही क्या ? जहाँ एक छोटासा तिनका भी आकाश में निरालंब नहीं रह सकता वहाँ ४२ इंच की मूर्ति का अधर निरालंब रहना क्या कम आश्चर्यकारक है !

अर्ध पद्मासनस्थ मूर्ति

इस मूर्ति के चित्र से वाचक-वर्ग भलीभाँति कल्पना कर सकेंगे कि यह मूर्ति पद्मासनस्थ है। बायें घुटने पर दायाँ घुटना रखे हुए यह प्रतिमा है। ऐसी ही अर्धपद्मासनस्थ मूर्ति डभोई में श्री लोढण पार्श्वनाथ की और भांडक (भद्रावती) जि. चांदा में भी है जिसकी उँचाई ६० इंच है। कुलपाक तीर्थ में भी अर्धपद्मासनस्थ मूर्तियाँ हैं।

रेत की प्रतिमा

रेत, गोबर और अन्य मिश्रित वस्तुओं की प्रतिमा तैयार करने की परंपरा श्वेतांबर संप्रदाय में प्राचीन काल से चली आ रही है। अतः श्वेतांबर पंथीय मूर्ति पर बार-बार विलेपन करवाते हैं किंतु जब तीर्थ के स्वामित्व के लिए श्वेतांबर-दिगंबरों में झगडा उठ खडा हुआ तब दिगंबरों ने कोर्ट में यह दलील पेश की थी कि मूर्ति पत्थर की है। इसलिए अकोला कोर्ट के एडिशनल जज श्री आर.पी.परांजपे खुद वहाँ आये और उन्होंने मूर्ति की जाँच की थी। मूर्ति के जिस भाग पर से लेप उखड गया था उस पर हाथ फेरने पर वह भाग खुरदरा मालूम हुआ था और नाखूनों से जरा कुरेदने पर रेत नीचे गिरने लगी थी। फलस्वरूप एडिशनल जज श्री परांजपे ने यह मूर्ति रेत-मिश्रित ही है ऐसा उल्लेख अपने फैसले में किया था।

Inspection note by the Additional District Judge -

``After carefully examining the body on the parts thus scraped to ascertain the kind of material out of which the idol was made originally, I came to the conclusion that this idol could not have been originally made of stone, but of some sand-mixed material, For this inquiry, I repeatedly moved my hand and even scraped the surface at those places with my nails and my opinion was confirmed. Thus the necessity of plaster for this idol is obvious'' 27-3-1938

-R.V. Paranjpe, Additional District Judge, Akola
[R.P.P.C.I, Page 241]

निरालंब मूर्ति

मूर्ति की जाँच के लिए कोर्ट ने खास अधिकारियों की नियुक्ति की

थी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, ''मूर्ति तीनों ओर से अधर है। किंतु दायें घुटने का अग्रभाग यत्किंचित् भूमि से सटा हुआ है। यह पढकर हमें बहुत आश्चर्य हुआ और जब हमने इसकी विशेष जाँच करवायी तो मालूम हुआ कि सं. १९४२ में मूर्ति का विलेपन करवाया गया था। विलेपन-क्रिया की अवधि में कारीगरों के हाथ से अनजान ही लेप का एक टुकडा प्रतिमाजी की पीठ की बायीं ओर गिर पडा था। उसे निकालने का पूरा प्रयत्न किया गया किन्तु वह निकल नहीं सका। अधिक प्रयत्न करने पर मूर्ति को क्षति पहुँचने का भय था। अतः ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया। और तब से मूर्ति पीछे की ओर यत्किंचित् सटी हुई नज़र आती है।'' सरकारी अधिकारियों की रिपोर्ट सं. १९२४ के पहले की है। इस लिए यह बात भी सही मालूम होती है। अंतरिक्षजी में रहनेवाले वृद्ध लोगों का कहना है कि ७५ वर्ष पहले यह मूर्ति बिलकुल अधर थी। कल्पान्तर से दायें घुटने के नीचे कुछ फँस जाने से वहाँ का बहुत ही सूक्ष्म भाग भूमि को स्पर्श कर गया है। किन्तु इतने सूक्ष्म स्पर्श पर सारी मूर्ति का अधर रहना असम्भव ही है पर मूर्ति उसके दैवी प्रभाव के कारण ही निरालंब है इसमें कोई शंका नहीं।

कई वर्षों से इस तीर्थ के दर्शनार्थ श्वेतांबर मुनि और श्रावकों का आवागमन होता ही रहता है। श्री भावविजयजी के स्तोत्र से बिल्कुल स्पष्ट है कि यह मंदिर श्वेतांबरो ने बनवाया है। मूर्ति की प्रतिष्ठा भी उन्होंने ही करवायी है। इसलिए स्पष्ट है कि मंदिर का स्वामित्व श्वेतांबरों का ही है। अकोला कोर्ट ने भी अनेक परिस्थितिजन्य और शास्त्रीय प्रमाणों से मूर्ति श्वेतांबरी ही सिद्ध की है।

पुजारियों का हस्तक्षेप

आरंभ से तीर्थ में रही मूर्ति का पूजन-अर्चन और सुरक्षा के लिए शिरपुर स्थित मराठा लोगों को रखा था। वे लोग 'पोलकर' कहलाते हैं। मंदिर का कामकाज देखनेवाली पेढी थी। हिसाब-किताब की बहियाँ, आंगी (झाँकी), मुकुट, चक्षु, टीका (तिलक) इत्यादि आभूषण भी वहाँ रखे जाते थे। वि.सं. १८४५ से लेकर बाद के सभी हिसाब आज भी वहाँ मिलते हैं। पहले शिरपुर में जैनियों की बस्ती नहीं थी। इस लिए पास के प्रदेश विदर्भ, खानदेश के जैन जाकर तीर्थ की देखभाल और अन्य प्रबंध किया करते थे। उनमें बालापुर (विदर्भ) के शाह पानाचंद नथुसा, उनके पुत्र शाह हौशीलाल

पानाचंद, शाह हौशीलाल वल्लभदास। उनके पुत्र शाह पुंजासा हौशीलाल तथा पौत्र शाह किसनचंद पुंजासा तथा अमलनेर वाले (खानदेश) हीराचंद खेमचंद रघुनाथदास, धुलियावाले शाह सखाराम दुल्लभदास, येवला के शाह लालचंद अंबाईदास और शाह कल्याणचंद लालचंद आदि श्रावक मुख्य थे। एक तरह से ये लोग तीर्थ के विश्वस्त ही थे।

पुजारियों की अराजकता

विदर्भ (वराड) जब निजाम के कबजे में था तब वहाँ सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। ऐसे विषम समय पुजारियों ने ही तीर्थ को हजम कर लिया। वे ही तीर्थ के मालिक बन बैठे। गाँव में दिगंबरों के ५०-७५ घर थे, पर उनका इस तीर्थ पर किसी प्रकार का कोई अधिकार न था। जैन होने के नाते वे केवल दर्शन के लिए ही मंदिर में आते थे। यहाँ का अधिकार और कारोबार श्वेतांबरों के हाथ में था। किंतु वे दूर बसे हुए थे और आवागमन के साधन भी उस समय अल्प थे। परिणामतः पोलकर निरंकुश बन गये। किसीकी परवा किये बिना मानो वे अपने बाप का ही तीर्थ समझ बैठे थे। उनके चंगुल से तीर्थ को छुडाने के लिए श्वेतांबर और दिगंबरो ने कंधे से कंधा लगाकर बासीम कोर्ट में पोलकरों पर फौजदारी, दाखिल की। वि.सं. १९५९ (ई.स.१०-९-१९०३) में उसका फैसला होकर तीर्थ जैनियों के अधिकार में आ गया। तीर्थ श्वेतांबर समाज का होने के कारण इस सारी खटपट में उन्होंने ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा किया। यह स्वाभाविक ही था।

पोलकर पुजारियों से समझौता

आखिर पोलकरों के साथ ऐसा समझौता हुआ कि उनके चार आदमी मंदिर की सफाई करें, पानी भरें और जैन समाज उनके जीवननिर्वाहार्थ वार्षिक रु. २६१ दे। साथ ही भगवान के आगे जो फल-नैवेद्य चढाया जाए वह उन्हें दिया जाए। यदि कोई १ से १० रूपये तक की रकम भगवान के आगे धरे तो वह भी उन्हें मिले। किंतु १० रुपये से ज्यादा धरी गयी रकम पेढी में जमा की जाए। इस लिए हर यात्री को चाहिए कि वह भगवान के आगे पैसे न धरे किन्तु पेढी में ही लिखवा दे, श्वेतांबरों का साथ दे। दिगंबर समाज ने पोलकरों से तीर्थ प्राप्त करने में सहायता प्रदान की, अतः उन्हें भी पूजन-अर्चन की अनुमति दी गयी। किन्तु दिगंबरों की पूजा-विधि अलग प्रकार की होने के

कारण इन दोनों में अकारण संघर्ष निर्माण न हो इस दृष्टि से लगभग एक हजार जैन अग्रणियों की पंचायत बैठी और वि.सं. १९६१ (सन १९०५)में उन्होंने श्वेतांबर और दिगंबरों के लिए पूजा करने की बारी निश्चित कर दी गयी ताकि किसी प्रकार का झगडा न होने पावे। साथ ऐसा भी एक नियम बनाया गया कि श्वेतांबरों के पर्यूषण में (श्रावण व. १० से भाद्रपद शु.४ तक) दिगंबर सुबह के ६ बजे से ९ बजे तक केवल ३ घंटे ही पूजा करें और दिनभर श्वेतांबर करें। ठीक वैसे ही दिगंबरों के दशलक्षणी पर्व (पर्यूषण) में (भाद्र शुद्ध ५ से भा. शु. १४ तक) श्वेतांबर सुबह में ६ से ९ तक ३ घंटे पूजा करें और दिनभर दिगंबर !

जो बारी निश्चित की गयी है वह केवल पूजा के लिए ही है। शेष दर्शन तो किसी भी समय कर सकते हैं। इसके बाद सं. १९६२ में कारंजा में दोनों पक्षों की एक इकठ्ठी पंचायत बुलायी गयी जिसमें पहले के नियमों में यह सुधार किया गया कि आश्विन वद १४ के दिन श्वेतांबर सुबह ६ से ९ तक पूजा करें और बाकी २१ घंटे दिगंबर। वैसे ही आश्विन वद अमावस के दिन दिगंबर सुबह ६ से ९ तक पूजा करें और बाकी २१ घंटे श्वेतांबर।

दिगंबरों का हस्तक्षेप

उस समय का कार्यक्रम आज भी वैसा ही निर्बाध चला आ रहा है किंतु दिगंबर भाइयों को इससे संतोष न हुआ। श्वेतांबरों के ही अधिकार छीन लेने की वृत्ति उनमें जाग पडी और उन्होंने दाँव-पेंच खेलने शुरु किये। जब कभी भगवान का विलेपन उखड जाता था तब श्वेतांबरी मूर्ति पर लेप करवाते थे। वैसे ही सं. १९६४ में भी उन्होंने विलेपन करवाया। उसमें कटिसूत्र (कंदोरा) और कच्छोट की आकृति पहले जैसी ही करवायी लेकिन उसी समय दिगंबरों ने गुप्त रीति से कटिसूत्र और कच्छोट की आकृति को लोहे के औजारों से नष्ट कर दिया। यह भयंकर घटना सं. १९६४ के माघ शुद १२ (ता. १२-२-१९०८) के दिन घटित हुई। दिगंबरों की इस कार्यवाई से श्वेतांबरों को गहरी चोट पहुँची। फिर तो आगे चलकर श्वेतांबर प्रणालिकानुसार चक्षु, टीका आदि आभूषण चढाने और नव अंग की पूजा करने की क्रिया का भी दिगंबरों ने विरोध करना शुरु किया। समझौते के सारे मार्ग ही बंद हो गये। आखिरकार विवश होकर ता. १०-२-१९१० के दिन श्वेतांबरों ने दिगंबरों के खिलाफ अकोला कोर्ट में दीवानी मुकदमा दाखिल किया। यह केस प्रिवी

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान के तीर्थ में श्वेतांबर और दिगंबरों के पूजा करने का नियम-समय दर्शन

दिन	प्रातः ६ से ९	९ से १२	१२ से ३	३ से ६	रात्रि ६ से ८	८ से १०	१० से १२	१२ से २	२ से ४	४ से ६
गुरुवार	श्वेतांबर	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.
शुक्रवार	दिगंबर	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.
शनिवार	श्वेतांबर	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.
रविवार	दिगंबर	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.
सोमवार	श्वेतांबर	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.
मंगळवार	दिगंबर	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.
बुधवार सुद	श्वेतांबर	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.
बुधवार वद	दिगंबर	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.	दि.	श्वे.

कौंसिल तक पहुँचा और इ.स. १९२९ में इसका आखिरी फैसला घोषित हुआ।

श्री सागरानंद सूरिजी का प्रसंग

जब स्वर्गस्थ पूज्यपाद श्री १००८ श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज (सागरजी महाराज) बंबई से श्री अंतरिक्षजी का संघ लेकर वहाँ पधारे तब बडा झगडा खडा किया गया था। इन सब घटनाओं से श्वेतांबरों को बडा दुःख हुआ। उन्होंने दिगम्बरों के विरुद्ध १९१० फरवरी के ११वीं के दिन अकोला कोर्ट में दीवानी केस दाखिल किया। श्वेतांबरों की ओर से श्री हौशीलाल पानाचंद (बालापुर), शा. कल्याणचंद लालाचंद (येवला) आदि पाँच लोग थे। जब कि विपक्ष में श्री होनासा रामासा इत्यादि बाईस लोग थे।

श्वेतांबरों की ओर से धार्मिक भावना दुःखाने का, लेप को नुकसान पहुँचाने का और पेढी की आय में हानि पहुँचाने का अभियोग दिगंबरों पर लगाया था। श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा श्वेतांबर संप्रदाय के अनुसार है। इस लिए कच्छोट, कटिसूत्र और विलेपन करवाने का तथा चक्षु, टीका, मुकुट इत्यादि आभूषण चढाने का उन्हें पूरा अधिकार है। दिगंबर उन्हें रोक नहीं सकते ऐसी श्वेतांबर समाज ने कोर्ट में माँग की। तीर्थ श्वेतांबरों का ही है इसे सिद्ध करने के लिए प्रशासनिक और शास्त्रीय ऐसे ६०० प्रमाण कोर्ट में प्रस्तुत किये गये। और नं.-१ से ७ तक के प्रतिवादियों पर विलेपन कुरेदने का अभियोग लगाया गया।

इसके विपरीत दिगंबरों ने सभी अभियोगों का एक स्वर से इनकार किया और कोर्ट से अनुरोध किया कि वह घोषित करे कि तीर्थ दिगंबरों का है। इ.स. १९०५ में पूजा का कार्यक्रम निश्चित हुआ है और तदनुसार दिगंबरों को समानाधिकार प्राप्त हो गया है, अतः अब तीर्थ का सर्वाधिकार मांगने का श्वेतांबरों को कोई अधिकार नहीं है। एस्टापेल का कानून भी उन्होंने उपस्थित किया।

कोर्ट ने दोनों पक्षों के निवेदन और प्रमाणों का अभ्यास किया। कमीशन नियुक्त कर जाँच के लिए श्री अंतरिक्षजी भेजा गया। आखिर ता. २७-३-१९१८ को अकोला कोर्ट के न्यायाधीश ने एक प्रदीर्घ फैसला दिया जिसमें श्वेतांबरों के दावे को मान्यता प्रदान की गयी थी। फैसले में स्पष्ट शब्दों

में कहा गया था कि तीर्थ और मूर्ति श्वेतांबरों की ही है किंतु सन १९०५ में श्वेतांबरों ने स्वखुशी से दिगंबरों को पूजा का अधिकार दिया है, इस लिए अब उस अधिकार को वापस खींच लेना असंभव है। लेप का उल्लेख करते हुए बताया कि पहले से आज तक जब-जब विलेपन किया गया है तब-तब कटिसूत्र और कच्छोट का आकार बनाया जाता था। यह तथ्य अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है। अतः सं. १९६४ (सन १९०८) में किये गये विलेपन में श्वेतांबरों ने उसमें कुछ कम-ज़्यादा किया ऐसा मैं कदापि नहीं मान सकता। इस फैसले के अनुसार एक आदेशपत्र जारी अप्रैल १९०८ में किया गया जो निम्नानुसार था -

दोनों पक्षों को चाहिए कि वे सं. १९६१ (सन् १९०५) में निर्धारित पूजा के समय-पत्रक को मान्य रखें। अपने-अपने पक्ष में जो कुछ भी आर्थिक आय हो उसे अलग-अलग इकट्ठी करने का दोनों पक्षों को समानाधिकार है। विलेपन कुरेदने की घटना सत्य होते हुए भी उसे किसने कुरेदा यह बात श्वेतांबर संप्रदाय सिद्ध नहीं कर पाया है। फलतः हरजाने की श्वेतांबरियों की माँग को स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्वेतांबरों को अपनी पूजा के समय में चक्षु, टीका, मुकुट तथा आँगी आदि रखने का पूरा अधिकार है। उसी प्रकार दिगंबरों को भी अपने पूजा-समय में चक्षु, टीका, मुकुट आदि उतारने का पूरा हक है। श्वेतांबर पंथीय जब मूर्ति का विलेपन करे और उसमें कटिसूत्र, लंगोट आदि निकालें तो दिगंबरों को विरोध करने का अधिकार नहीं है। किंतु श्वेतांबरों को चाहिए कि वे कटिसूत्र, कच्छोट आदि चिह्न ऐसे रखें कि जिससे दिगंबरों की भावना को ठेस न पहुँचे। मूर्ति और मंदिर दोनों वास्तव में श्वेतांबरों के ही हैं। ऐसा होते हुए भी सर्वाधिकार की उनकी माँग को स्वीकारना आज की परिस्थिति में असंभव है।

नागपुर हाइकोर्ट में अपील

अकोला कोर्ट के फैसले से श्वेतांबर और दिगंबर दोनों को यथेष्ट संतोष न हुआ। कोई भी सर्वाधिकार प्राप्त नहीं कर सका। प्रशासन-संबंधी संपूर्ण और अबाधित ऐसा अधिकार श्वेतांबरों को भी नहीं मिला। विलेपन, कटिसूत्र और कच्छोट कराने का अधिकार श्वेतांबरों को मिला ज़रूर, किन्तु कटिसूत्र और कच्छोट कितना स्पष्ट हो इसके बारे में कोई निश्चित आदेश नहीं दिया गया। फलतः श्वेतांबर संप्रदाय ने मध्यप्रांत के ज्युडिशियल कमिशनर के

नागपुर कोर्ट में ता. १५-०१-१९१८ को अपील दाखिल की। दिगंबरों ने भी श्वेतांबरों के विरुद्ध में अपील (Cross appeal) दाखिल की। अपील का फैसला ता. ०१-१०-१९२३ को घोषित हुआ। न्यायाधीश श्री पी. एस. कोतवाल और श्री एफ. डब्ल्यु. ए. प्रीडो ने सभी प्रलेख, साक्षियाँ और कागजातों को दुबारा देखकर निर्णय दिया कि इस केस में मुख्य प्रश्न संपूर्ण स्वामित्व का नहीं किन्तु संपूर्ण प्रशासन का है, अतः यदि श्वतांबरों को संपूर्ण प्रशासनिक अधिकार दिये जाएँ तो वे संतुष्ट होंगे। विलेपन में कटिसूत्र और कच्छोट का आकार कैसा हो इसकी निश्चित सूचना देने की आवश्यकता हमें अनुभव नहीं होती। मंदिर और मूर्ति दोनों श्वेतांबरों के ही हैं। कोर्ट का पूरा निर्णय निम्नानुसार है।

(अ) श्वेतांबरों को मंदिर का प्रशासन करने के सभी अधिकार बिना किसी बंधन के दिये जाते हैं। उन्हे कटिसूत्र-कच्छोट और विलेपन करने का भी पूरा हक है। वे अपनी पद्धति के अनुसार चक्षु, टीका, मुकुट और अन्य आभूषण चढा सकते हैं।

(आ) सन् १९०५ के समय-पत्रकानुसार दिगंबर अपने पूजा समय में चक्षु, टीका, मुकुट आदि आभूषणों से रहित मूर्ति की पूजा कर सकते हैं। किन्तु उन्हें चाहिए कि वे कच्छोट, कटिसूत्र और विलेपन को दूर करने की कोशिश न करें अथवा इस बारे में हस्तक्षेप न करें।

सर्वोच्च न्यायालय में अपील

उपरोक्त निर्णय से श्वेतांबरियों को कुछ संतोष हुआ किंतु दिगंबर और नाराज हो उठे। उन्होंने इंग्लेंड की प्रिव्ही कौन्सल में अपील की। सर्वोच्च न्यायालय में दिगंबरों द्वारा की गयी अपील का निर्णय ता. ०९-०७-१९२९ के दिन जाहिर हुआ। न्यायालय ने नागपुर कोर्ट के फैसले को ही मान्य रखा और दिगंबरों की अपील मय खर्चे के ठुकरा दी। कौन्सल का मुकदमा इंग्लैंड में चला था। तदनुसार नागपुर कोर्ट में और सर्वोच्च न्यायालय में झगडते हुए श्वेतांबर-संप्रदाय का जो खर्च ६८९ पौंड (लगभग दस हजार रुपये) हुआ, वह दिगंबरों को श्वेतांबरों को देने का आदेश दिया गया।

उपरोक्त व्यवस्था के अनुसार आज भी तीर्थ का सारा काम-काज चलता है। सभी प्रशासनिक अधिकार संपूर्णतया श्वेतांबरों के हाथ में हैं।

मंदिर में जो कुछ भी कम ज़्यादा सुविधाएँ और सुधार करने हों, वे कर सकते हैं। १९०५ साल में बना समय-पत्रक आज भी जारी है और दोनों पक्ष उस पत्रक के अनुसार पूजन-अर्जन, करते हैं।

विलायत के सर्वोच्च न्यायालय का फैसला
Privy Council Appeal No. 69 of 1927

Honasa Ramasa Lad Dhakad and other....
Appellants.
Vs
Kalyanchand Lalchand Patni Gujrathi and
others..... Respondents.
From :-
The Court of the Judicial Commissioner of the Central
Provinces.
Judgement of the Lords of the Judicial
Committee of the Privy Council delivered.
on the 9th July, 1929

Present at the Hearing.
Lord Blanesburgh.
Lord Tomlin.
Sir Lancelot Sanderson.
(Delivered by Lord Blancesburgh.)

At Shirpur, in the District of Akola, there has stood for five hundred years and it may be for much longer, the Jain Temple of **Antariksha Parshwanath**. The Jains are roughly ranged into two main divisions the Digambaris, represented in this suit by the appellants, and the Swetambaris, represented by the respondents. One of the essential religious differences between the two is that Digambari idols are worshipped in a state of complete nudity, while the idols of the Swetambaris are revered draped and decorated with jewellery and ornaments. This deep-seated doctrinal or liturgical difference between influential sections of the Jain community lies at the root of the

dispute which has ripened into this portentous litigation.

In the temple at Shirpur there is an ancient idol, ``Shri Antariksha Parshwanath Maharaj,'' believed by the Swetambaris to be self-existent. The deity is held in deep veneration by them, also by the Digambaris. It has apparently been a subject of controversy time out of mind whether it is a Swetambari or a Digambari idol, and whether as originally existent it was covered at the waist by a tie or band carved out of the stone or sand of which it is composed as the Swetambaris assert or whether it, being apparently agreed that the private parts are not visible to the worshipper, this resulted not from any tie or band or other physical covering but from the actual posture of the idol itself as is the contention of the Digambaris. The Swetambaris had been used from time to plaster the idol's body as a result of which that which was alleged by them to be a self-existent waist band had in the Digambari view been produced and the immediate occassion of the suit was that on the 13th February, 1908, the defendants 1 to 7, with other Digambaris acting in the interest of the sect, chiselled, as the plaintiffs alleged, by means of iron instruments, the alleged self-existent tie and waistband from the body of the idol and removed the plaster and erased the lines on its hands and ears, outraging thereby the religious feelings of the Swetambaris. For all this the plaintiffs claimed Rs. 15,003 as damages. But the scope of the suit was not limited to that claim. - It became the medium for vindioating Swetambari pertensions ranging for beyond its immediate oceasion. By their plaint the plaintiffs asserted that the property in and right of management of the relief temple was and always had been exclusively in the Swetambaris. On that footing they claimed substantive relict against the defendants as representing the Digambaris. And the defendants were not slow to take up the challenge so thrown down, for although from time to time objecting to the regularity of the suit during its

progress in India, they joined, without regret apparently in this prolonged conflict, which after nearly 23 years of litigation in India, has at lenght been brought before His Majesty in Council for final adjudication.

The Swetambari case as put forward by them can be shortly stated. Both the Temple of Shri Antariksha Parasnath at Sirpur and that idol therein belong to their sect of the Jain community. It had been the uninterrupted privilege of the sect from time immemortal to worship the idol with the part showing the male organ covered up by a waist-tie and band and jewels and pastings on the body. The Swetambaris alone had uninterrutedly managed the affairs of the temple and of this idol, the Digambaris having no part or lot therein, until 1905, when, with due consideration, as it is put, for the desire of the Digambaris to worship the secred deity in their own way, some members of the Swetambari sect disinterestedly effected arrangement whereby the Digambaris were permitted to worship the idol at specified times without ornaments and under certain rules which sefeguarded the religious beliefs and the customs of the Swetambaris. But after two year's co-operation the Swetambari followeres had become convinced that the continuance of the association with the Digambaris was deterimental to the religious sentiments, rights and management of the Swetambaris, and on the 13th February 1908, matters came to a head, when the idol was mutilated by defendants 1-7 in the manner already referred to. Since then the defendants had been obstructing the Swetambaris in placing upon the deity its accustomed ornaments and in restoring it to its self-existent form. And the plantiffs claimed damages : injunctions restraining the defendants and other Digambari followers from raising any obstacle to the management of the Samsthan by the Swetambari or the restoration of the image to its original form by them. Declarations were asked for, framed so as to obtain a decision from the Court that the Swetambari

management of the temple and idol was absolute and uncontrolled; that no worship of the diety except in its self-existent condition and covered as required by the religious principles of the Swetambaris should take place, and injunctions were sought to make these declarations effective at the instance of the Swetambari.

The answering case of the Digambaris may not inadequately be described as a complete repudiation of the claims of the Swetambaris with the counter assertion, by themselves, of rights over the temple and the idol as extensive and as absolute as those put forward by the Swetambari. Their case is to be found in the written statement of defendant No. 8, which was adopted as their own by the other defendants.

In the course of that statement the charges of the plantiffs with reference to the alleged mutiliation of the idol by defendants are repudiated, and the views of the Digambaris with reference to the original form of the idol are put forward. With reference to these charges it may at once be stated that the plaintiffs' allegations as to the defendants' responsibility were not established at the trial, and their claim for damages, which was resisted by the defendants on technical as well on substantial grounds, has failed and is no longer persisted in.

For the rest, the case presented by the written statement referred to was that the temple in question originally and absolutely belonged to the Digambari Jains, the Digambaris at Shirpur doing all the management, with the help and advice of other followers at Khamgaon and Karanja. The association between the two sects referred to in the plaint was stated to have been brought about by an invitation from the Digambaris to some respectable gentlemen from among the Swetambaris to join in a committee of management under an arrangement which continued until 1908, when the Treasurer and Vice-President of the Committee, both Swetambaris, with a view of

withholding the entire wealth of this Digambari temple, had kept back the accounts which, when called upon, they had agreed to present; in consequence of which couduct, as appears to be implied in the written statement, their instance. In confirmation of the assertion that the temple and idol were Digambari, it was pointed out in the statement that the Deity in question was Digambari in its position, having been installed by a Jain Digambari King in a temple of Digambaristyle and construction and that, itself a principal idol, it was surrounded by Digambari idols worshipped only by Digambaris. The Swetambari had never worshipped this deity with the chaksu and tika and ornaments, and they had never been permitted by the Digambari so to do.

No conflict could be more complete and eleborate. Each of the two sects asserted an exclusive property in the temple and idol, with a right of management entirely uncontrolled. Joint control imposed by the one sect upon the other was a suggestion foreign to the cases of both. It was the common position as pleaded that the period of association, so vaguely referred to by both constants, in no way impinged upon the absolute and exclusive rights claimed by each of them. The association as put forward on both sides was no more than a temporary arrangement that could at any time be brought to an end by those who by invitation had brought it into being. The vital importance of these identical pretensions will emerge in the sequel.

The cases so put forward were litigated at great length and over many years, first in the court of the Additional District Judgde of Akola, and on appeal before the learned Judicial Commissioner of the Central Provinces. At the trial, many witnesses were called on both sides and many exhibits produced; 600 of these were put in on the platiffs' side alone. In the result, on the cases so made, the findings of both courts are

concurrent and are expressed in judgements of great eleboration and meticulous care. Broadly, the findings are in favour of the Swetambaris. These had all along been in actual management of the temple and idol; their title and right of management had been exclusive, and they had been worshipping the image with jewels, ornaments and paintings, the male organ of the deity being coverd with the waist-tie and band for a period, which could not be definitely ascertained, but at any rate from 1847-48. The Digambaris had also been allowed to worship in their own way in the temple; but the witnesses of the Digambaris on the point of the ownership of the temple and its management were not believed.

As the result, however, of the evidence taken, the period of association, gaurdedly dealt with by both disputants, assumed a significance more decisive than either of them had been prepared to acknowledge. It was disclosed that, at the commencement of the present century, the management of the temple, although nominally in the hands of the Swetambaris, had been in fact usurped by the servants of the temple known as Polkars, who for many years had exercised independent control and had become "perfect masters of the situation'' as the learned Trial Judge expressed it. They set their employers at defiance, and to consolidate their own position, tried to play off the Digambaris against the Swetambaris. They also maltreated and plundered the pilgrims. The two sects united to face a common enemy, and in order to deprive the Polkars of the powers they has usurped, the Digambaris, at the instance of the Swetambaris, agreed to co-operate, with the result that in May 1901, a joint committee of equal numbers of Swetambaris and Digambaris was formed to undertake the management of all affairs, the prime mover in the arrangement on behalf of the Swetambaris having apparently been Kalyanchand Lalchand one of the present respondents.

This committee, acting on behalf of both sects joined in

instituting criminal proceedings against the Polkars, who as a result, were reduced to the position of servants both. It was clearly the view of the learned Trial Judge, not dissented from an appeal, that but for the aid of the Digambaris then rendered, and but for the monetary assistance then provided to them, the temple and all control over it would have been lost to both sects.

This made all the more significant the proceedings at a general meeting of the Jains in 1905, at which, the Joint Committee still being in management, there was framed a scheme whereby the worship of the idol was to be performed by both sects in turns according to a regular time-table, which allocated precisely the same length of time for worship to each sect. The result, as held by both Courts, was that for the further period between the ejectment of the Polkars and the quarrel over the plastering of the idol in 1908. The two sects managed the temple through their committee, and worship was carried on by each sect in accordance with its own ceremonies and observances as prescribed by the time-table propounded in 1905. And in the view of the learned Trial Judge, these arrangements set at rest all disputes as to worship and as to the management of the Samsthan so far as the peculiarities of their worship and devotion went and they practically set a seal upon the recognised privileges of each party. Giving effect, therefore, to a plea of estopple set up by the defendants, he held that the plaintiff Swetambaris could no longer deny the right of the Digambaris to the joint management of the temple and to the worship of the idol in their own way as both of these matters were in the year 1905.

The learned judge's decree is dated the 27th March, 1918. Naturally no declaration that the Swetambaris are entitled to any exclusive right of management is made, while the claims of the Swetambaris to exclusive privileges of worship are disallowed. The parties are to adhere to the time-

table of 1905 and to obey the time regulations and procedure of worship in their own time as settled then. The collections of money and offerings are to be made by the two sects as hitherto from the time of the separation of their gadis and cash. The Swetambaris are to be entitled to worship the image with the ornaments chaksu, tika and the like according to their forms of worship, but only in their own time, no injunction is to restrain the Digambaris from insisting upon their right to worship the image without ornaments, and in their own way and in their own time according to the time-table. Each party is, therefore, directed strictly to adhere to the time-table and the time limit imposed therein.

Finally, an injunction is granted against the Defendants and all other Digambaris restraining them from interfering with the Swetambaris in the plastering of the idol so as to show the configuration on it of a waistband and waist-tie and certain marks on the ears and palms, but the order directs that "these marks shall not be so bold and prominent so as to be offensive in any way, and they shall be shown with a light touch of plaster and as faintly as possible.''

Both parties were dissatisfied, and the surviving plaintiff Swetambaris by notice of appeal and the defendant Digambaris by cross objections to the decree, set up again before the court of the Judicial Commissoner, Central provinces their respective cases as originally pleaded. Before that court, however, as stated in its judgment, the Swetambari appellants no longer contested the right of the Digambaris, as declared by the decree of the Trial Judge, to worship in their, own way and in their own time, according to the time-table, to which must be added the statement of their Counsel before the Board that they now mark no claim to the collections of money and offerings made by worshippers during the periods of worship assigned to the Digambaris. The cross-objections of the Digambaris having failed to impress the court, the issue

there, at the end of the day, resolved itself into the question whether the Subordinate Judge was wrong in refusing to grant to the Swetambaris a declaration of their exclusive right of management. Counsel for the Digambaris final contending only for the retention of the joint management as decreed by the Subordinate Judge. In the result the Appellate Court declard and held that the Swetambaris were, on the facts found, entitled to the exclusive management of the temple, and that the plea of estoppel set up by the written statement had no reference to that position.

The conclusions of the Court are embodied in its decree of the 1st October, 1923. It is from that decree that the present appeal is brought.

On full consideration of the whole case their Lordships have reached to the conclusion that to the decree is right.

The plea of estoppel contained in the written statement is perfectly general in its terms, and the defendants, when asked, refused to give any particulars of its meaning. In the absence of such particulars, it seems to their Lordships impossibe for the appellants to contend with success that it was thereby intended to set up against the plainitiffs' claim to exclusive managment an estoppel which would at once be fatal to the same claim then being substantively put forward by themselves.

But the question is not only one of form or of pleading. It is also one of substance. The appellant's case forcibly presented to the Board was that the facts found by the learned Trial Judge imported and agreement between the two sects as definite and permanent in the matter of joint management, as the time-table in the matter of worship was now admitted to be. No such agreement, however, is pleaded even in the alternative. No issue with regard to it was directed. No such

issue could have been directed as the existence of such an agreement was entirly contrary to the only pleaded case either of the plaintiffs or of the defendants. Moreover the evidence taken was not pointed to any such issue, and as it stands, is in all its prolixity on this issue, incomplete. In saying this, their Lordships have specially in mind the absence of Kalyanchand from the witness box-as absence only justifiable by the fact that this matter on which his evidence must have been so direct was not in issue at the trial. Lastly, the concession of the time-table now made by the respondents does not, as it seem, to their Lordships, carry with it any admisson of a right on the part of the Digambaris to participate in the management. No one has, in fact, suggested that the time-table without management is valueless, on the contrary, the evidence shows that this has been the prevailing order since the final rupture between the parties took place in 1909.

Their lordships need hardly affirm that they may call the Digambari right to the time-table as now declared, with all its implications, is in no sense a matter of favour. It is a matter of right by the Digambaris will bring them into conflict with the courts. Nor will they forget that by the admission of their learned counsel before the Board, they make no claim to the collections of money and offerings made by worshippers during the Digambari periods of worship. With these matters kept fully in mind by the Swetambaris there seems to their Lordships to be no reason why under this arrangement the relations between the two sects should not in this matter be in the future entirely harmonious.

In the result, therefore, the appeal fails and their Lordships will humbly advise. His Majesty that it be dismissed with costs.

Their Lordships will further humbly advise His Majesty that a petition lodged by the appellants for a stay of execution

of the decree of the Judicial Commissioner be also dismissed with costs.

DECREE

"The court of the Judicial Commissioners on the 1st October 1923 made a decree setting aside the decree of Lower Court and ordering (1) That the Swetambaris are entitled to the exclusive management of the temple and image of Shri Antariksha Parasnathji Maharaj and that they have right to worship the image in accordance with their custom, (2) That the Digambaris have a right of worshipping the image in accordance with an arrangement made in 1905 but are not to interfere with the Swetambari custome of worship, (3) That the Digambari sect be permanently restained from obstructing the Swetambari sect in getting the image restored to its original form and plastering the same now and hereafter.''

"That the appellants obtained leave to appeal to your Majesty in council.''

"THE LORDS OF THE COMMITTEE in obedience to His late Majesty's said order in council have taken the appeal and humble petition into consideration and having heard counsel on behalf of the parties on both sides, Their Lordships do this day agree humbly to report to Your Majesty as their opinion that this appeal ought to be dismissed and the decree of the Court of Judicial Commissioners of the Central Provinces dated 1st day of October 1923 affirmed.''

""HIS MAJESTY having taken the said report into consideration was pleased by and with the advice of HIS Privy Council to approve thereof and to order as it hereby ordered that the same be punctually observed, obeyed and carried into execution.''

नागपुर कोर्ट से सन् १९२३ में मंदिर और मूर्ति से संबंधित सभी

कार्यवाईयो और कटिसूत्र-कच्छोट कराने तथा विलेपन कराने का अधिकार प्रदान किये जाने के तत्काल बाद सन १९२४ में श्वेतांबर संप्रदाय ने विलेपन कराया। दिगंबरों ने विलेपन-कार्य स्थगित कराने की गरज से पुनः कोर्ट की शरण ली, पर उनकी दाल न गली। माँग अस्वीकार कर दी गयी। परिणाम-स्वरूप दिगंबरों ने अपनी पूजा के समय में प्रतिदिन उबलते दूध और गरम जल का अभिषेक प्रतिमाजी पर कर विलेपन नष्ट करने के ही संभव प्रयास किये और इस तरह उन्हें मिले हुए अधिकारों का सदुपयोग (?) कर हर्षित हुए ! बाद में दिगंबरों ने प्रिव्ही कौन्सिल में दौड लगायी लेकिन वहाँ भी उनकी एक न चली ! इस प्रकार 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' के अनुसार श्वेतांबरों का अधिकार दिन-ब-दिन पक्का होता गया। सन १९३४ में फिर विलेपन की तैयारी की गयी। दिगंबरों ने फिर विरोध उठाया। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ने श्वेतांबर संप्रदाय को विलेपन करने का अधिकार दिया है तथापि यह क्रिया कब की जाए और विलेपन के लिए कोर्ट की ओर से जब तक कटिसूत्र-कच्छोट की लंबाई-चौडाई-ऊँचाई निश्चित नहीं हो जाती तब तक श्वेतांबरों को विलेपन की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए-दिगंबरों की यह प्रार्थना भी अस्वीकृत हो गयी। दिगंबर फिर नागपुर कोर्ट में गये। केस फिर अकोला कोर्ट में आया। अकोला कोर्ट ने जाहिर किया-'मूर्ति के कटिसूत्र की चौडाई १ इंच रखी जाए और कमर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक (वेष्टित) कटिसूत्र आकृति बनायी जाए। कटिसूत्र की चौडाई १/३ इंच अर्धगोलाकार हो। कच्छोट की मुटाई १/८ इंच की रखी जाए और प्रारंभ के भाग की चौडाई दो इंच और अंतिम भाग ढाई इंच का रखा जाए। मूर्ति की विलेपन क्रिया की अवधि में तथा वह पूर्ण रूप से सूख न जाए तब तक श्वेतांबर-संप्रदाय मूर्ति की पूजा, प्रक्षालन और अभिषेक आदि क्रियाओं पर प्रतिबंध रख सकेंगे। उस समय दिगंबरों का विरोध नहीं चलेगा। वे जब चाहे तब विलेपन-क्रिया कराने के लिए स्वतंत्र है। उनके विरोध में दिगंबर कुछ नहीं कर सकते।'' आदेश पाते ही श्वेतांबरों ने विलेपन की तैयारी की। दिगंबरों ने अकोला-निर्णय के खिलाफ नागपुर कोर्ट में पुनः अपील की। हाइकोर्ट के जज जस्टिस आर. के. पोलक ने ता. ८-७-१९४७ के दिन अपील का निर्णय देते हुए अकोला कोर्ट की आज्ञा को मान्य कर दिगंबरों की प्रार्थना ठुकरा दी। साथ ही उन्होंने अपना अभिप्राय व्यक्त किया कि दिगंबर संप्रदाय जान-बूझकर केस को बढ़ाने का प्रयास कर रहा है। इसलिए श्वेतांबरों का जो खर्चा हुआ है वह सब दिगंबरों को देना चाहिए। उपरोक्त फैसले के बाद श्वेतांबरों ने विलेपन-क्रिया शुरू करनी चाही

किंतु दिगंबरों ने फिर हाईकोर्ट में 'लेटर्स पेटंट' अपील कर विलेपन स्थगित करवाने की माँग की। किंतु ता. १७-३-४८ के दिन हाइकोर्ट ने उनकी इस अपील को भी अस्वीकृत कर दिया। और विलेपन क्रिया को स्थगित करने का कोई आदेश नहीं दिया जाएगा ऐसा स्पष्ट कर दिया। आखिर ता. ३-१०-१९४८ को विलेपन सूख जाने पर अभिषेक-पूजादि देनंदिन कार्यक्रम पुनः शुरू हुआ। मूर्ति अब दुगुनी तेजस्वी दिखायी देने लगी। संवत २०१५ में प्रतिमाजी को विलेपन करने का प्रसंग फिर उपस्थित हुआ। पुराना विलेपन उखाड दिया गया। इस समय भी दिगंबरियों ने सरकार में सच्ची-झूठी बातें पहुँचायी और मूर्ति को प्रतिबद्ध करा दिया। किंतु अधिकारियों के सामने सच्चाई आने पर सभी प्रतिबंध दूर हो गये और विलेपन-क्रिया निर्विघ्न संपन्न हुई।

दिगंबरियों ने प्रभु की मूर्ति की जो घोर आशातनाएँ की थीं उनकी शांति हो इसलिए आचार्य महाराज श्री विजयभुवनतिलकसूरीश्वरजी के मार्गदर्शन में अष्टादश अभिषेक-बृहत् अष्टोत्तरी स्नात्र आदि उत्सव संवत २०१७ फाल्गुन मास में किये गये और मूर्ति अपने पूर्ण तेज से दैदीप्यमान हो गयी।

संक्षिप्त तीर्थोल्लेख

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ की उत्पत्ति से संबंधित उपलब्ध प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों का वर्णन पहले ही दिया जा चुका है। अब ऐसे प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनमें केवल श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का नामोल्लेख ही है।

'श्रीपुरे अंतरिक्ष पार्श्व' इस प्रकार का उल्लेख श्री जिनप्रभसूरिरचित 'विविध तीर्थकल्पांतर्गत चतुरशीति महातीर्थ नामसंग्रह कल्प' के ८६वें पृष्ठ पर है। इन्हीं जिनप्रभसूरिरचित 'श्रीपुर अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प' का उल्लेख पहले आ गया है जिससे ध्वनित होता है कि इसकी रचना प्रायः सं. १३६४ से १३८९ में हुई होगी। किंतु यह अनुमान है कि उन्होंने चतुरशीति महातीर्थ नाम संग्रह की रचना सं. १३६९ के पहले की होगी क्योंकि प्रस्तुत कल्प में शत्रुंजय तीर्थ का वर्णन करते समय सं. १०८ में वज्रस्वामी और जावडशाह के हाथ से प्रतिष्ठित श्री आदीश्वर भगवान और पुंडरीक स्वामी का आपने निर्देश किया है किंतु इस प्रतिमा का संवत् १३६९ में मुसलमानों के हाथों नाश हुआ ऐसा आपने शत्रुंजय तीर्थ कल्प में (रचना सं. १३८५) में उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीपुरे अंतरिक्ष श्रीपार्श्व का चतुरशीति तीर्थनाम संग्रह कल्प

का उल्लेख सं. १३६९ के पूर्व का होना चाहिए। संभव है कि उन्होंने यह उल्लेख तीर्थयात्रा करने से पहले केवल कहीं से सुनकर ही किया हो। सं. १४७३ मं लिखी गयी श्रीधर्मघोषसूरिविरचित कालिकाचार्य की कथा के अंत में भी जो प्रशस्ति दी गयी है उसमें इस तीर्थ का निर्देश मिलता है। संभवतः १६वीं सदी में श्री रत्नशेखरसूरि के प्रशिष्य श्रीरत्नमंदिर गणि विरचित श्री उपदेश तरंगिणी में भी इस तीर्थ का उल्लेख है। देवविमल सूरिकृत हीरसौभाग्य महाकाव्य में भी इसका उल्लेख है। आत्मानंद सभा-भावनगर से प्रकाशित श्री शीलरत्नसूरिकृत चतुर्विंशति जिनस्तुति में पृष्ठ ९/३ पर तथा उसी प्रति में अन्यत्र छपी खुशालविजय विरचित (सं. १८८१) पुरुषादानी पार्श्वदेव नाममाला में भी इसका उल्लेख मिलता है। श्री आत्मानंद सभा से प्रकाशित जैन ऐतिहासिक गूर्जर काव्य संचय के अनेक रासों में भी इस तीर्थ का वर्णन है। यशोविजय ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित प्राचीन तीर्थमाला संग्रह भाग १ में भी कई मुनिवरों ने इस तीर्थ की यात्रा की थी, ऐसा वर्णन उपलब्ध है। न्यायविशारद वाचक प्रवर श्री यशोविजयजी महाराज यहाँ पधारे थे और आपने प्रभु की स्तुति में दो स्तवन भी बनाये थे।

प्रतिमालेख का ज्वलंत प्रमाण

श्री अंतरिक्षजी तीर्थ की जितनी भी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो सकी उतनी हर तरह से प्राप्त कर हमने उसका सविस्तार वर्णन किया है। इस प्रकरण में उसकी पुष्टि हेतु श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ से संबंधित एक लेख (जो एक धातु की प्रतिमा पर है) दिया जाता है।

हमारा (श्री जंबुविजय महाराज का) चातुर्मास सं. २००६ में अकोला में था। यहाँ से विहार कर हम बालापूर, शेगांव, खामगांव, मलकापूर और बर्हानपूर होते हुए जलगाँव पहुँचे। रास्ते में हम बर्हानपुर ठहरे थे। यह नगर तीनसों वर्ष पूर्व जैनियों का बहुत बड़ा केन्द्र था और वहाँ अठारह जैन मंदिर थे। कालांतर से नगर की आबादी कम होती गयी। फलतः एक ही भव्य मंदिर की रचना कर सब मंदिरों की प्रतिमाएँ एक ही जगह रखी गयी। उन पाषाण और धातु की प्रतिमाओं पर खुदे लेखों को हमने उतार लिया है। क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बहुत ही महत्व है। वहाँ से जब हम जलगाव आये तब जलगाव की मूर्तियों का अभ्यास करते समय हमें श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान का उल्लेख करते हुए एक महत्त्वपूर्ण लेख का पता

लगा। हमारे हर्ष का पारावार न रहा। लेख निम्नानुसार है :-

संवत् १७०५ वर्षे फागुणवदि ६ बुधे श्री अवरंगाबादज्ञातीयवास्तव्य-प्राग्वाटज्ञातीयदृग्र (१) शाखायां सा. अमीचंदभार्या बाई इंद्राणी-नाम्न्यास्वकुट (टूं) बश्रेयसे स्वकारित प्रतिष्ठायां श्रीवासुपूज्यजिनबिम्बं कारितं प्रतिष्ठितं च तपागच्छाधिराज श्रीविजयसेनसूरीश्वर पट्टालंकार भट्टारक श्री श्री श्री विजयदेव-सूरिभिः श्रीअंतरिक्षपार्श्वनाथ प्रतिमालंकृत श्री सिरपुरनगरे ॥ शुभं भवतु ॥ श्री ॥

भावार्थ - विक्रम संवत् १७०५ के फाल्गुन कृष्ण ६ बुधवार को औरंगाबाद के निवासी पोरवाड ज्ञातीय हग्र (?) शाखा के अमीचंद की पत्नी इंद्राणी नामक देवी ने अपने परिवार के कल्याणार्थ संपन्न प्रतिष्ठा में श्री वासुपूज्य भगवान का बिंब बनवाया और तपागच्छाधिराज श्री विजयसेन सूरीश्वरजी महाराज के पट्टालंकार श्री विजयदेवसूरि ने श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा से अलंकृत सिरपुर नगर में इसकी प्रतिष्ठा की।

इस पर से सिद्ध होता है कि तीन-सौ वर्ष पूर्व भी इस तीर्थ पर श्वेतांबरों का ही अधिकार था। उस समय औरंगाबाद में जैनियों की बड़ी आबादी थी। और वहाँ अनेक भव्य जिनालय भी थे। इस लिए वहाँ आचार्यादि मुनियों के चातुर्मास होते रहते थे। अंतरिक्षजी तीर्थ से औरंगाबाद १२० मिल की दूरी पर है। संभव है कि विजयदेवसूरीश्वरजी महाराज औरंगाबाद से श्री अंतरिक्षजी आये हो और आपके साथ आये हुए औरंगाबाद के श्रावकों ने ही यहाँ आपके हाथों प्रतिष्ठा करवाई हो।

आज-कल जब कि श्वेतांबर-दिगंबरों में अनबन है, जब-जब उस मंदिर में श्वेतांबर मूर्ति स्थापना करते हैं, दिगंबर झगडा कर बैठते हैं। चालीस साल पहले श्री पू. सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज यहाँ संघ लेकर पधारे थे, तब उनके साथ मूर्ति थी। वहाँ संघ थोडे दिन के लिए ठहरनेवाला था। ऐसी स्थिति में उतने दिन तक मूर्ति का मंदिर में ही प्रतिष्ठित होना स्वाभाविक ही था। किन्तु उस बात को भी लेकर दिगंबरों ने विरोध किया था। आखिर मामला कोर्ट में पहुँचा। किंतु उपर्युक्त लेख से सिद्ध हो गया कि तीर्थ पर सर्वस्वी श्वेतांबरों का ही अधिकार था और उनकी इच्छानुसार वहाँ दूसरी प्रतिमाएँ भी स्थापित की जाती थीं। इस दृष्टि से यह लेख वाकई अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ छंद

शारदमात कृपा से प्रभु के यथामति गुण गाऊंगा
अंतरिक्ष प्रभु चरण कमल का सेवक मैं कहलाऊंगा ॥ १ ॥

दर्भ नहीं जिस देशभूमि में विदर्भ वह कहलाता है
पवित्रता है मूर्तिमंत वह धर्म जहाँ बहलाता है ॥ २ ॥

अंतरिक्षजी पार्श्वनाथ का तीर्थ भक्तजन पूजित है
शिरपुर नगर विभूषण प्रभुजी अधरासन हि विराजित है ॥ ३ ॥

रावण भगिनीपति खरदूषण वायुयान से शीघ्र चला
भोजन समय जान उतरा वह भूमि पर प्रभु भक्त भला ॥ ४ ॥

पार्श्वप्रभु की मूर्ति बनाई सिकतामिश्रित द्रव्य मिली
पूजन कर पधराई जल में वज्रमयी वह शीघ्र बनी ॥ ५ ॥

इस मूर्ति का पूजन करते इंद्र हुकुम से देव भले
बहुत काल बीता प्रभु अद्‌भुत मूर्ति प्रभावित उदक बने ॥ ६ ॥

इलापति श्रीपाल नरेश्वर न्यायपूर्ण पालता मही
कुष्ठरोगपीडित आया जल पीने धोये पाँव वही ॥ ७ ॥

जल से पीडा दूर भई तब राजा को आश्चर्य हुवा
प्रभाव जल का जान नृपति ने स्नान किया तब रोग गया ॥ ८ ॥

कर उपवास नृपति आराधे निश्चय से जलदेव वहाँ
मांगी मूर्ति प्रभाविक जिनकी देवों ने इनकार किया ॥ ९ ॥

नहीं हटूँगा प्रण जब देखा देवों ने उस भूपति का
कहा देव ने मूर्ति देऊँगा प्रण कर आज्ञा पालन का ॥ १० ॥

सात दिनों के बछडे जोतो रथ बनवाना टाँटो से
सूत्रधार के रथ चलवाना नहीं देखना फिर मुड के ॥ ११ ॥

चला सजाकर रथ में प्रभुजी शंका राजा को आई
मुड के देखा निकल गया रथ मूर्ति अधर आकाश रही ॥ १२ ॥

स्वनामदर्शक नगर बसावा श्रीपुर नामक उसी जगे
कलापूर्ण मंदिर बनवाया वटछाया में प्रभु विलसे ॥ १३ ॥

प्रभुनाम के साथ हमेरा नाम चिरंतन हो जावे
अहंकारगर्भित मन दूषित भक्तिबीज बाधा आवे ॥ १४ ॥

गर्वरिपु देखा देवों ने राजा के मनमंदिर में
नहीं प्रवेशे प्रभुजी वहाँ के राजाकृत जिनमंदिर में ॥ १५ ॥

राजा दिल में दुःख निराशा पूछे प्रश्न सूरीश्वर को
अधर बिराजे अंतरिक्ष में स्पर्श किया नहिं मंदिर को ॥ १६ ॥

अभयदेवसूरीश्वरजी को बुलवाया जब राजाने
देवीने बतलाया मंदिर उचित नहीं प्रभु बसने में ॥ १७ ॥

संघ बनावे नूतन मंदिर निर्दोषित निज शुभ धन से
वहाँ पधारेंगे प्रभु सत्वर स्पर्श न भूमि करे ऐसे ॥ १८ ॥

अभयदेवसूरीश्वर प्रार्थित प्रभुजी पधारे मंदिर में
अंतरिक्षजी नाम धराया अधर रहे प्रभु अंबर में ॥ १९ ॥

राजा हर्षित भया चित्त में प्रभुपूजन मन भाव भरे
विपुल द्रव्य से पूजन करके श्रीपुर नगरी चरण धरे ॥ २० ॥

किरिट कुंडलों सहित रत्नमय तिलक हार मणिरत्नजडे
परमसुशोभित मणि मुक्ताफल विविध रंग प्रभु अंगधरे ॥ २१ ॥

नवांग पूजा चंदनमिश्रित विविध सुगंधित द्रव्य भले
स्तवन भक्ति किनी प्रभुजी की परम सुशोभित हार गले ॥ २२ ॥

भावविजय पन्यास मुनीश्वर कर्मदोषवश अंध बने
अंतरिक्ष प्रभु कीर्ति सुने जब दर्शन करने सिद्ध बने ॥ २३ ॥

संघसहित आये वे व्रतधर करे प्रार्थना चरणों में
नेत्र खुले दर्शन से हर्षित भावोल्हास बढा मन में ॥ २४ ॥

गोख नया बनवाकर विस्तृत वहाँ प्रतिष्ठित प्रभु करे
नयी प्रतिष्ठा भई प्रभुजी फिर भी अधर निवास करे ॥ २५ ॥

जगभूषण सब दूषणवर्जित चमत्कार देखा जिन में
सूरिजन पंडित केइ मुनिजन सेवा करते चरणों में ॥ २६ ॥

संघ केइ शतकों से आये भक्ति धरे प्रभु सेवा की
अर्पण करते प्रभुचरणों में अलंकार धन शुभ भक्ति ॥ २७ ॥

भक्तकामकल्पद्रुम प्रभुजी भक्तन के सब दुःख हरे
रोग शोक भय दैन्य दुःख का क्षण में प्रभुजी नाश करे ॥ २८ ॥

आवो ! आवो ! अंतरिक्षजी चरणों में वंदन करने
इहपरलोक सुधारो अपना मुक्तिमार्ग पर संचरने ॥ २९ ॥

बंधन जिनके प्रभुकृपा से टूट गये निश्चित क्षण में
बालेन्दु प्रभुचरणकमल का भृंग बना है तनमन में ॥ ३० ॥

– **'बालेन्दु'**

एक प्राचीन स्तवन

(संवत् १८३६ माघ शुद्ध ७ को श्री देवसुंदर मुनि ने यह बनाया है। हस्तलिखित प्रति से यह उद्धृत किया है।)

(राग - हो साहेब संभव प्रभु तुम नाम थी-ए देशी)

हो साहेब श्री अंतरीक जिनसाहेबा ॥
शोभे श्री शिरपुर मझार हो साहेबा ॥

नरनारी आवे घणा श्री जिनने दरबार हो ॥ ए आंकणी ॥
शेषफणा टोप सोहामणो सेवे श्री नागराज हो ॥ सा. १ ॥
इण कलिकाले तूं सही श्री अंतरीक महाराज हो ॥ सा. २ ॥
चांपो केवडो मालती मोगरो आवे भरी भरी छाब हो ॥ सा. ३ ॥
चकवा समरे दिनमणि हू समरु तुम नाम हो ॥ सा. ४ ॥
चरणे लंछन दीपतो, श्री धरणेंद्र गुणधाम हो ॥ सा. ५ ॥
हरिहर देव घणा अछे, पण नावे जोड हो ॥ सा. ६ ॥
तुम दरिसण दीठे थके, माहरी पुगीं छे मुनि कोड हो ॥ सा. ७ ॥
संवत अढार छत्रीसमां, महासुदि छठी मझार हो ॥ सा. ८ ॥

अंतरीक प्रभु भेटतां, मारो सफल थयो अवतार हो ॥ सा. ९ ॥
पंडित शिरें दिणमणि, श्री भानसुंदर गुरुराय हो ॥ सा. १० ॥
माहरी आस्या फली महाराय हो ॥ सा. ११ ॥

॥ श्री अन्तरिक्षपार्श्वनाथस्तोत्रम् ॥

उपजातिवृत्तम् ।

श्री पार्श्वनाथं भुवि सुप्रसिद्धं, वैदर्भदेशे सुविशालकीर्तिम् ।
अस्पृष्टभूमिं सुयथार्थनाम, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ १ ॥

विभूषितं श्रीपूरमध्यभागं, पातालगर्भगृहसंस्थितं यः ।
अनेक भक्तार्पितभक्तिपुष्पं, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ २ ॥

लंकापतेर्बाहुविभूषितं यत् बिम्बं जिनेन्द्रस्य सुभूतकाले ।
चमत्कृतिर्यस्य जने प्रसिद्धं, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ ३ ॥

वाराणसी यस्य सुजन्मभूमिर्वामाकुले सूर्य इव प्रदीपः ।
पूज्यं मनोवाञ्छितपूरकं तं, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ ४ ॥

फलीन्द्रविस्फारितमातपत्रं, सुशोभितं सुंदरशामवर्णम् ।
आकृष्टभक्तालिमुखारविन्दं, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ ५ ॥

सत्योपदेष्टा कमठस्य पार्श्वो, मन्त्रामृतेनोद्धरितः फणीन्द्रः ।
सुरेन्द्रसंपूजितदेवदेवं, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ ६ ॥

धर्मोपदेष्टा भुवि भाविकानां, तीर्थंकरः संघविधायको यः ।
धर्मस्य संस्थापकधर्ममूर्तिः **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ ७ ॥

भक्तस्य वाञ्छा भुवि भाग्यलक्ष्मी-विधायको यः परमार्थसिद्धेः ।
मोक्षस्य दाता परमं पवित्रं, **श्रीअंतरिक्षं शिरसा नमामि** ॥ ८ ॥

श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ जिनेश्वर स्तवन

(राग - जब तुम ही चले परदेश)

श्री अन्तरिक्षप्रभु पास, पूरो हम आश
स्वामी सुखकारा, सेवक का करो उद्धारा

विदर्भ देश के शिरपुर में, तुम जाकर बैठे दूर-दूर में ।
तुम दर्शन को आया हूँ जिनजी प्यारा... सेवक ॥ १ ॥

तुम सेवा में मैं आया हूँ, महापुण्य से दर्शन पाया हूँ ।
आनंद हुआ है दिल में आज अपारा... सेवक ॥ २ ॥

तुम मूर्ति अद्धर रहती है, अति चमत्कार चित्त देती है ।
तुम महिमा जग में सोहे अपरंपारा... सेवक ॥ ३ ॥

प्रभु तुमने रोग मिटाया है श्रीपाल का कोढ हटाया है ।
मम दुःख हरो करुणारस के भंडारा... सेवक ॥ ४ ॥

तुम नाम को नित्य समरता हूँ, कर जोड के विनति करता हूँ ।
जंबू को है प्रभु तेरा एक सहारा... सेवक ॥ ५ ॥

- रचयिता : मुनिराज श्री जंबूविजयजी महाराज

श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ स्तुति

मध्य भारते विदर्भ देशे श्रीपुरनगरीनो राणो,
भवभयवारक जगजनतारक पापविदारक सुहामणो,
भक्त मनोवांछित पूरक जे संशय छेदक भवि मनना
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. १

कलिकाले ए अद्‌भुत दीपे चमत्कार गुण भर्या दिसे,
जस तोले नहीं अन्य तीर्थ कोई दर्शन करता मन हीसे;
मुखमंडल जस अतिव मनोहर नयन सुहंकर सुहागणा,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. २

भजता जेने नेत्र उघाडे बंधन तूटे बंदीतणा,
पुत्रपौत्रनी आशा पूरे दुःख मटे रोगी जनना;
भक्तोनुं दारिद्र्य निवारे मनवांछित पूरे सहुना,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ३

दश दिशिमां जस कीर्ति सुगंधी प्रसरी अनुपम अवनीमां,
भक्तमधुप गुंजारव करता दोडी आवे जंस पदमां;
मन आनंद न मावे जोतां मुख प्रमुदित थाअे सहुना,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ४

दूषित जाणी धरा परवशा अधर बिराजे महाप्रभु,
जगजन दु:खो निवारवाने अवतरिया छे अेह विभु;
पापीजन उद्धरे प्रभुना प्रभावथी आ अवनीमां,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ५

विविध नामधारी बहु देशे पूजाअे पारस देवा,
स्पर्श थतां जस सुवर्ण थाए भक्त-लोह फळती सेवा;
एवा प्रभुना नाम घणा छे भक्त तणा देवेन्द्रतणा,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ६

खरदूषण राजाए निर्मी भावि जिननी ए प्रतिमा,
केइक वत्सरो जलमां रहीने प्रगट थइ आ अवनीमां;
इल नृपतिए भावभक्तिथी लावी अद्‌भुत ए रथमां,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ७

शंका जागी नृपति चित्तमां स्थिर थया प्रभु श्रीपुरमां,
मंदिर बांध्युं मनमां राखी गर्व न बेठा प्रभु अेमां;
संघे बांध्युं सुंदर मंदिर भूगर्भे कीधी रचना,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ८

आवो वामानंदकेरा दर्शन करवा सहु आवे,
पूजन भजन करी लेजो मानव जन्मतणो ल्हावो;
तारणतरण भविकजनना अे अन्य न दीसे आ जगमां,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ९

श्यामसुंदरा मूर्ति अलौकिक फणिधर शिर पर छत्र धरे,
अर्ध करी पद्मासन बेठा भक्तजनोना चित्त हरे;
सफल गणे निज नेत्र भक्तजन दर्शन करी प्रभु पासतणा,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. १०

मुकुट कुंडलालंकृतिथी मुखमंडल रत्न तिलक सोहे,
स्वर्णघटि मणि मुक्ताफलना हार कंठमां मन मोहे;
बालेन्दु नतमस्तक थइने भावे गावे गुण जिनना,
पार्श्वनाथ प्रभु अंतरिक्षजीमां अधर बिराजे मनहरणा. ११

– श्री बालचंद हीराचंद 'साहित्यचंद्र'

भारत के सभी प्रदेश और हिस्सों से सहस्त्रों बर्षों से अनेकानेक जैन आचार्य, पंडित, मुनि, संघ समुदायसहित श्री अंतरिक्षजी तीर्थ की यात्रा के लिए सतत आते ही रहते हैं।

जिसकी संक्षिप्त नोंध

संवत् १८४५ से लगाकर आज तक अनेकविध संघ और आचार्य, श्रमण श्रेष्ठों का यहाँ आगमन होता ही रहा है। इसी तरह बडे-बडे ज्ञानी-ध्यानी, प्रतिष्ठित श्रावक वर्ग का तीर्थ की यात्रा के लिए आना-जाना रहा है। जिसकी विस्तृत जानकारी संस्थान के कार्यालय में आसानी से मिल सकती है। अनेकों ने सेवाद्रव्य एवं अलंकार और पूजोपकरण भी चढाये हैं। संस्थान के कागजात में इन बातों का निर्देश करते हैं। इस जगह यह बात ध्यान में रहे कि दिगंबरी मूर्ति पर कभी जवाहरात एवं अलंकार चढाये नहीं जाते।

कई यात्रिकों ने संस्थान के हिसाब की जाँच-पडताल कर अपने अभिप्राय दिये हैं। जिसे देखना हो वह स्वयं देख सकता है।

इस तीर्थ से संबंधित प्रमुख घटनाएँ

१. विक्रम संवत् ११४२ माघ शुक्ल ५ रविवार को श्रीपाल ऊर्फ ईल राजा ने श्रीपुर (शिरपूर) गाँव बसाकर संघ द्वारा निर्मित भव्य मंदिर में आचार्य श्री अभयदेव सूरि के हाथों प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर तीर्थ की स्थापना की।

२. विक्रम संवत् १७१५ चैत्र शुक्ल ६ रविवार को पं. श्रीभावविजय गणि ने संघ की ओर से मंदिर की आकार-वृद्धि कर के प्रस्तुत पूर्वाभिमुख भगवंत की स्थापना की।

३. विक्रम संवत् १९५९ (ता. १०-०९-१९०३) पोलकर पुजारियों से श्वेतांबरियों ने अलंकारसह तीर्थ को पूर्ववत् अपने कब्जे में लिया।

४. विक्रम संवत् १९६१ (सन १९०५) दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों ने स्व-आम्नायानुसार पूजा करने का कार्यक्रम निश्चित किया।

५. वि. सं. १९६४ माघ शुक्ल १२ (ता. १२-०२-१९०८) दिगंबरों ने मूर्ति को दिगंबरी स्वरूप देने के दुष्ट इरादे से गुप्त रीति से मूर्ति से कटिसूत्र और कच्छोट कुरेदकर मूर्ति दिगंबरी बनाने का घातक प्रयास किया।

६. ता.११ फरवरी १९१० को दिगंबरियों के खिलाफ अकोला कोर्ट में दावा दाखिल किया।

७. ता.११ जुलाई १९१८ में नागपुर कोर्ट में अपील दाखिल की।

८. ता.१ अक्तूबर १९२३ में नागपुर कोर्ट का फैसला घोषित हुआ और श्वेतांबरियों का प्रशासनिक अधिकार कायम रखा गया।

९. ता.९ जुलाई १९२९ में दिगंबरियों ने विलायत में सर्वोच्च न्यायालय में अपील की थी। उसका फैसला-दिगंबरियों की अपील खारिज कर दी गयी और खर्च की रकम रु. १०,००० दिगंबरियों से श्वेतांबरियों को दिलवायी।

१०. आचार्य श्री विजयभुवनतिलकसूरिजी की निश्रा में दिगंबरियों के द्वारा की गयी आशातना की शांति-प्रीत्यर्थ संवत् २०१७ फाल्गुन कृष्ण ७ अठारह अभिषेक एवं अष्टोत्तरी शांतिस्नात्र आदि क्रियाएँ सम्पन्न हुईं।

मिशन जैनत्व जागरण द्वारा प्रसारित साहित्य

प. पू. पंजाब देशोद्धारक आ. विजयानंद सू. म. (आत्मारामजी म.) का सन्मार्गदर्शक साहित्य

१.	सम्यक्त्व शल्योद्धार	३२५/–
२.	नवयुग निर्माता	२००/–
३.	जैन तत्त्वादर्श	३००/–
४.	जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर	२००/–
५.	जैन मत वृक्ष और पद्य साहित्य	२००/–
६.	जैन मत का स्वरूप	१२५/–
७.	नवतत्त्व संग्रह	३००/–
८.	ईसाईमत समीक्षा	१००/–
९.	चिकागो प्रश्नोत्तर	१००/–
१०.	अज्ञानतिमिर भास्कर	५००/–
११.	तत्त्व निर्णय प्रसाद	५००/–

प. पू. मुनिराज ज्ञानसुंदरजी म.सा. द्वारा लिखित साहित्य

१.	मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास	१००/–
२.	श्रीमान् लौंकाशाह	१००/–
३.	हाँ ! मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त है	३०/–
४.	सिद्ध प्रतिमा मुक्तावली	१००/–
५.	क्या जैन धर्म में प्रभु दर्शन – पूजन की मान्यता थी ?	५०/–
६.	जैन जाति महोदय	४००/–

गुरुदेव मु. श्री जंबूविजयजी म. संशोधित - संपादित ग्रंथ

१. द्वादशारनयचक्र भाग–१
२. द्वादशारनयचक्र भाग–२
३. द्वादशारनयचक्र भाग–३
४. आचारांगसूत्र मूलमात्र
५. सूत्रकृतांगसूत्र मूलमात्र
६. स्थानांग तथा समवायांगसूत्र मूलमात्र
७. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र मूलमात्र
८. अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि, हारिभद्री वृत्ति तथा

मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-१
९. अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि, हारिभद्री वृत्ति तथा
मलधारिहेमचन्द्रसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-२
१०. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-१
११. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-२
१२. स्थानाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित भाग-३
१३. समवायाङ्गसूत्र अभयदेवसूरिविरचितवृत्ति सहित
१४. द्रव्यालंकार स्वोपज्ञटीकासहित
१५. न्यायप्रवेशक बौद्धाचार्य दिङ्नाग प्रणीत
१६. सर्वसिद्धान्त प्रदेशक
१७. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-१
१८. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-२
१९. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-३
२०. पाटणना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-१
२१. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-२
२२. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-३
२३. पाटना जुदा - जुदा भंडारोना हस्तलिखित ग्रंथोनुं सूचिपत्र भाग-४
२४. जैसलमेरना भंडारनुं सूचिपत्र
२५. धर्मबिन्दु (कर्ता-हिरभद्रसूरि म.)
मुनिचन्द्रसूरिविरचितटीकासहित
२६. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन-लघुवृत्ति (प्र. आवृत्ति)
२७. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन-लघुवृत्ति (प्र. आवृत्ति)
२८. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन रहस्यवृत्ति
२९. सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन (मूलसूत्रो अकारादिक्रम युक्त)
३०. वैशेषिकसूत्र - चन्द्रानन्दविरचितवृत्तिसहित
३१. उपदेशमाला - हेयोपादेयाटीका सहित
३२. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-१ (द्वितीय आवृत्ति)
३३. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-२ (द्वितीय आवृत्ति)
३४. स्थानांगसूत्र सटीक भाग-३ (द्वितीय आवृत्ति)
३५. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-१ (द्वितीय आ.)
३६. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-२ (द्वितीय आ.)
३७. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिसहित भाग-३ (द्वितीय आ.)

३८. ठाणांगसमवायांगसुत्तं च (शीलांकाचार्य कृत्त टीकोषेत)
३९. आचारांगसूत्रकृतांगसूत्र सटीक
४०. आचारांगसूत्र (शीलाचार्यकृतवृत्ति युक्त) प्रथम श्रुतस्कंधना प्रथम चार अध्ययन पर्यंत
४१. पंचसूत्र सटीक
४२. गहुली संग्रह
४३. सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग-१
४४. सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग-२
४५. स्त्रीनिर्वाणकेवलीभुक्ति प्रकरणे
४६. जैसलमेर केटलोग - मूळकर्ता सी.डी. दलाल
४७. श्री सिद्धभुवन प्राचीन स्तवन संग्रह
४८. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-१
४९. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-२
५०. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-३
५१. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-४
५२. गुरुवाणी (पूज्यश्रीना प्रवचनोनो संग्रह) भाग-५
५३. हिमालय नी पदयात्रा

(प. पू. श्री ए प. पू. आ. म. श्री प्रद्युम्नसूरिजी उपर विहार दरम्यान लखेल पत्रोनो संग्रह)

५४. अंतरिक्ष पार्श्वनाथ
५५. नंदीसूत्र
५६. मलयगिरि विरचित वृत्ति सहित
५७. गुरुवाणी (हिन्दी) १
५८. गुरुवाणी (हिन्दी) २
५९. गुरुवाणी (हिन्दी) ३
६०. गुरुवाणी (हिन्दी) ४
६१. गुरुवाणी (हिन्दी) ५
६२. हिमालय की पदयात्रा (हिन्दी)
६३. नमस्कार स्वाध्याय

भूषण शाह द्वारा लिखित-संपादित हिन्दी पुस्तक

१.	जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा	१००/-
२.	● जैनत्व जागरण	२००/-

३.	● जागे रे जैन संघ	३०/-
४.	पाकिस्तान में जैन मंदिर	१००/-
५.	पल्लीवाल जैन इतिहास	१००/-
६.	दिगंबर संप्रदाय : एक अध्ययन	१००/-
७.	श्री महाकालिका कल्प एवं प्राचीन तीर्थ पावागढ	१००/-
८.	अकबर प्रतिबोधक कौन ?	५०/-
९.	● इतिहास गवाह है।	३०/-
१०.	तपागच्छ इतिहास	१००/-
११.	● सांच को आंच नहीं	१००/-
१२.	आगम प्रश्नोत्तरी	२०/-
१३.	जगजयवंत जीरावाला	१००/-
१४.	द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय	५०/-
१५.	प्रभुवीर की श्रमण परंपरा	२०/-
१६.	इतिहास के आइने में आ. अभयदेवसूरिजी का गच्छ	१००/-
१७.	जिनमंदिर एवं जिनबिंब की सार्थकता	१००/-
१८.	जहाँ नमस्कार वहाँ चमत्कार	५०/-
१९.	● प्रतिमा पूजन रहस्य	३००/-
२०.	जैनत्व जागरण भाग-२	२००/-
२१.	जिनपूजा विधि एवं जिनभक्तों की गौरवगाथा	२००/-
२२.	● अनुपमंडल और हमारा संघ	१००/-
२३.	अकबर प्रतिबोधक कौन ? भाग-२	२००/-
२४.	महात्मा ईसा पर जैन धर्म का प्रभाव	५०/-
२५.	खरतरगच्छ सहस्राब्दी निर्णय	५०/-
२६.	प्राचीन जैन स्मारको का रहस्य	५००/-
२७.	जैन नगरी तारातंबोल : एक रहस्य	५०/-
२८.	जंबू जिनालय शुद्धिकरण	१००/-
२९.	प्राचीन भारत की यात्रा पद्धति	३००/-

भूषण शाह द्वारा लिखित/संपादित गुजराती पुस्तक

१.	મંત્ર સંસાર સારં	२००/-
२.	● જંબૂ જિનાલય શુદ્ધિકરણ	३०/-
३.	● જાગે રે જૈન સંઘ	२०/-
४.	● ઘંટનાદ	

૫. ● શ્રુત રત્નાકર (પૂ. ગુરૂદેવ જંબૂવિજયજી મ.સા. નું જીવન ચરિત્ર)
૬. જૈનશાસનના વિચારણીય પ્રશ્નો ૫૦/–

भूषण शाह द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक

१. ● Lights ३००/–
१. ● History of Jainism ३००/–

अन्य साहित्य

१. ધરતી પર સ્વર્ગ - સા. નંદીયશાશ્રીજી મ. २०/–
२. Heaven on Earth - SA Nandiyasha Shriji M.S. २०/–
३. कर्म विज्ञान २०/–
४. जडपूजा या गुणपूजा – एक स्पष्टीकरण (हजारीमलजी) ३०/–
५. पुनर्जन्म – (सं.पू.आ. जितेन्द्रसूरिजी म.सा.) ३०/–
६. क्या धर्ममें हिंसा दोषावह है ? ३०/–
७. तत्त्व निश्चय (कुएँ की गुंजार पुस्तक की समीक्षा)
८. बत्तीस आगमों से मूर्तिसिद्धि (आशिष तालेडा) ५०/–

नोंध

नोंध

निर्माणाधीन नूतन तीर्थ संकुल